पदार्थ-शास्त्र 

श्रीमद्काशी हरिकेशनन्दनवन विराजमान, ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु विश्वाराध्य शिवभट्टाचार्य पारम्परागत १००८ जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य-प्रवर्तित श्री. ज. विश्वाराध्य ज्ञानमन्दिर के लिए सादर अर्पित,





आचार्य—आनन्द झा

ले. कृष्णाजी सोमवार

पदार्थ-शास्त्र

(प्रथम-भाग)

प्रणेता–

विविध संस्कृत हिन्दी मैथिली एवं बङ्गला ग्रन्थों के
रचयिता तथा सम्पादक—

साहित्यालङ्कार

पं० आनन्द झा न्यायाचार्य

वेदान्त-वागीश,

काशी।

[प्रथ]म संस्करण १०००]   [मूल्य २॥)

प्रकाशक :—
पं० आनन्द झा न्यायाचार्य्य,
नं० ३३/२८ खालिसपुरा, बनारस

प्राप्तिस्थान—
१. मोतीलाल बनारसीदास,
चौक, बनारस ।
२. मोतीलाल बनारसीदास,
बाँकीपुर, पटना ।

मुद्रक :—
श्रीपरेशनाथ घो
सरला प्रेस, बनार

समर्पण

जिनके उष्ण-रुधिर-सन्तर्पण से स्वतन्त्र हो पाया ।
भारत, उनके पद अंकित-पथ पर यह पत्र चढ़ाया ॥

काशी
स्वतन्त्रता-दिवस
२००७ विक्रम-सम्वत्



विनीत—
प्रणेता



विश्वविख्यात-वैदुष्य श्रद्धेय डाक्टर बाबू भगवान् दास जी का

मत—

श्री आनन्द झा ने अपने लिखे "पदार्थ शास्त्र" के कुछ गेली-प्रूफ़ मैं मुझे दिखाए—ग्रन्थ हिन्दी में लिखा है—मैंने आपाततः उलट-पुलट के देखा—अच्छा ही लिखा है—गूढ़ विषय को सुख-बोध्य करने का यत्न किया है। आज काल जनता का और शासकवर्ग का भी ध्यान इस ओर अधिक हो रहा है (और होना बहुत उचित है) कि सब शास्त्रों की शिक्षा हिन्दी द्वारा दी जाय, इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ऐसे ग्रन्थों का अधिक मात्रा में लिखा जाना आवश्यक है।

———

गवर्नमेन्ट-संस्कृत कालेज काशी के भूतपूर्व प्रिन्सिपल, यू० पी० गवर्नमेन्ट संस्कृत-परीक्षा के भूतपूर्व रजिष्ट्रार एवं भारतीय दर्शनों के अप्रतिम रहस्यज्ञ महामहोपाध्याय डा० श्री-गोपीनाथ कविराज महोदय का मत —

पं० आनन्द झा रचित "पदार्थ-शास्त्र" के कुछ अंशों को मैंने एक सरसरी दृष्टि से देखा है। पुस्तक वैशेषिक-दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर लिखी गई है, और साधारण पाठक तथा जिज्ञासु छात्रों के लिये विशेषरूपसे उपयोगी है। पुस्तक की रचनाशैली सुन्दर और भाषा सरल तथा प्राञ्जल है।। आशा है जिज्ञासु विद्यार्थी एवं साधारण पाठक पुस्तक से पर्य्याप्त लाभ उठायेंगे।

———

अनेक विश्वविद्यालय के अनेककाल तक भूतपूर्व सफल कुलपति अन्ताराष्ट्रीय-ख्याति-प्राप्त विद्वान् डा० श्रीयुत अमरनाथझाजीका मत—

दर्शन और विज्ञान के मूल-सिद्धान्तों को सरल भाषा में स्पष्ट करना कठिन है। गम्भीर विषय के लिये गम्भीर भाषा ही उपयुक्त समझी जाती है। जो पंडित हैं वे तो संस्कृत के मूल-ग्रन्थ स्वयं पढ़ लेंगे अथवा गुरु से पढ़ लेंगे। परन्तु सर्वसाधारण के लिये उन पुस्तकों का पढ़ना असम्भव है। प्रचलित देशीय भाषा में इन विषयों पर पुस्तकें कम लिखी जाती हैं। मैं पंडित आनन्द झा की इस पुस्तकका हृदयसे स्वागत करता हूँ। इससे ग्रन्थ कर्त्ता के पाण्डित्य का तो परिचय मिलता ही है— साथ ही विषय को सुगम बनाने में उन्हें प्राप्त सफलता का भी। मुझे आशा है हिन्दी-संसार इसका आदर करेगा।

———

दर्शन शास्त्र के विशिष्ट मर्मज्ञ-विद्वान् श्रीयुत धर्मेन्द्र शास्त्री अध्यक्ष संस्कृत विभाग मेरठ-कालेज, एवं कन्वीनर संस्कृत-बोर्ड आगरा युनिवर्सिटी महोदयका मत—

भारतीय दर्शन-शास्त्र की विशेषकर न्याय-वैशेषिककी कतिपय समस्याओं पर विचार-विनिमय करने के लिये बनारस की अन्धेरी गलियोंमें छिपे जिन कतिपय पण्डित-रत्नों को मैंने ढूंड़ा उनमें अन्यतम श्री पं० आनन्द झा न्यायाचार्य हैं। उनसे दार्शनिक विषयों पर वार्त्तालाप करके मुझे उनकी परिष्कृत-प्रतिभाका परिचय प्राप्त हुआ था।

अभी हाल में पण्डितजी ने "पदार्थ-शास्त्र" नामक न्याय-वैशेषिक-ग्रन्थ हिन्दी में तयार किया है। भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों के परिचयात्मक पुस्तकों का लिखा जाना कितना अपेक्षित है यह स्पष्ट है।

पदार्थशास्त्र को मैंने प्रूफ-कापियों में स्थल स्थल पर देखा है, वह अपने ढंग का हिन्दी में पहिला ही ग्रन्थ है, और उसके लिये हिन्दी-भाषियों को पण्डित जी का कृतज्ञ होना चाहिये, इस ग्रन्थके द्वारा बड़े अभाव की पूर्त्ति होगी।

जय विश्वम्भर !

प्राक्कथन—

महान् बलि के बदले प्राप्त भारत की यह स्वाधीनता, एवं तदनुरूप राजनीति या राष्ट्रनीति की सुव्यवस्था "क्षणिकविज्ञानवाद, परमाणुपुञ्जवाद, सर्वशून्यवाद, या शाङ्कर नित्यविज्ञानाद्वैतवाद आदि के जनसाधारणीकरणसे सुरक्षित या सुदृढ़ नहीं हो सकती। क्योंकि अपेक्षित शास्य-शासकभाव दण्ड्यदाण्डिकभाव पोष्यपोषकभाव भक्ष्यभक्षकभाव आदि को सुव्यवस्थित रखने के लिए सांसारिक प्रत्येक पदार्थों में 'स्थिरवस्तुदृष्टि' सत्यतादृष्टि आदि का जनसाधारणीभवन नितान्त अपेक्षित है। सांसारिक वस्तुओंको साम्वृतिक" या "व्यावहारिक" कहकर उक्त सुव्यवस्था इसलिए पनपाई नहीं जा सकती कि इससे जनसाधारण में मिथ्याचार फैलनेका बहुत भय रहता है।

चतुर्वर्ग के अन्तिम चरण स्वरूप निश्रेयस या निर्वाण के लिए विरल अधिकारी को इन वादों के मूलभूत "दृष्टि" की अपेक्षा होती है। परन्तु इन वादों के जनसाधारणीकरण की अपेक्षा नहीं। क्योंकि त्रिवर्ग के अन्दर किसी को लक्ष्य बनाकर चलनेवाली साधारण जनता के लिए उनकी एवं उनके मूलभूत दृष्टि की कोई अपेक्षा नहीं। उसे तो ठोस वस्तु के लिए ठोस वस्तु का ज्ञान चाहिए। वह निर्वाण के लिए किसी साधना-पथ का पथिक नहीं कि किसी दृष्टिमात्र से उसका काम चल जाय। अतः

जनता की सुव्यवस्था के लिए और राष्ट्र की सुशृंखल-स्वाधीनता के लिए "वस्तुवाद" नितान्त अपेक्षित है।

यही कारण है कि प्राचीन भारतीय व्यवस्था-शास्त्रकार मनु याज्ञवल्क्य चाणक्य प्रभृति ऋषि महर्षियों ने भी उक्त विज्ञानवाद आदि को प्रश्रय नहीं दिया। और आधुनिक कतिपय पर्य्यवेक्षक दार्शनिक विद्वान् शाङ्कर नित्यविज्ञानाद्वैतवाद के ऊपर सश्रद्ध होते हुए भी स्थिर-सत्य विभिन्न वस्तुओं की सत्ता को अपेक्षाभरी दृष्टि से देखते दीख पड़ते हैं। जिनमें उत्तर प्रदेश के वर्त्तमान शिक्षा-मन्त्री चिद्विलास आदि विशिष्ट ग्रन्थ के प्रणेता श्री सम्पूर्णानन्द का नाम सादर लिया जा सकता है। क्योंकि आपने "समाजवाद" नामक ग्रन्थमें शाङ्कर अद्वैतवाद से लेकर आधुनिक वस्तुवादी वैज्ञानिक तकके मतों के समन्वय के लिए प्रबल चेष्टा की है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्र की सुव्यवस्था की सुरक्षा को लक्ष्य रख कर ही आपने उक्त समन्वय की चेष्टा की है।

हजारों वर्ष बाद यह देश जब कि आज स्वाधीन हुआ है तब हजारों वर्ष पूर्व जनता में प्रसृत अनुकूल-विचारधाराका जनसाधारणीकरण आज उचित ही नहीं उपादेय भी होगा। क्योंकि प्रत्येक व्यष्टि-कार्य्य जैसे अपने उद्‌गम-स्थान के रूप में व्यष्टि-विचारकी अपेक्षा रखता है तैसे उपादेय धारात्मक क्रमिक समष्टि-कार्य्य भी किसी अविच्छिन्न सुशृंखल विचारधाराकी अपेक्षा करता है। विचारधारा भी कोई क्यों न हो वह अपने मूल में किसी एक दृष्टिकोण को अपना अवलम्बन अवश्य बनाती। जिस दृष्टिकोणका ही अपर नाम होता है "दर्शन" और जिसी के अनुरूप होनेवाला संशन या शासन (विधि निषेध) कहलाता है "शास्त्र"।

यह "पदार्थशास्त्र" प्राचीनतम वस्तुवादी महर्षि कणाद के "वैशेषिक दर्शन"—गत सिद्धान्त को मेरुदण्ड करके न्यायमत को प्रश्रय देते हुए लिखा गया है। अतएव इस ग्रन्थ में प्राचीन पदार्थ-शास्त्री नाम से जहाँ कहीं भी उल्लेख किया गया है, वहाँ प्राचीन वैशेषिकमतानुयायी विद्वानोंको समझना चाहिए। यों तो अन्य दार्शनिकों ने भी अपनी अपनी कृति के अन्दर पदार्थों का विवेचन किया है परन्तु उनका लक्ष्य उन पदार्थों के वास्तविक स्वरूप-निर्णय की ओर न होकर उनके खण्डन की ओर ही रहा है, अतः उन्हें पदार्थशास्त्री नहीं कहा जा सकता। हाँ बाह्या-स्तित्व वादी सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्ध विद्वानों ने अभिधर्म-कोश आदि ग्रन्थों में पदार्थों का विवेचन कुछ वास्तविक रूप से कियाहै परन्तु फिर भी वैशेषिकों की तुलनामें उन्हें इसलिए नहीं रखा जा सकता कि उनका वस्तु-विवेचन उतना ठोस नहीं हुआ है, जितना वैशेषिकों का। क्योंकि वस्तु-विवेचन का मूल्याङ्कन के लिए सबसे बड़ा कसौटी है विभा-जन। वह जितना वैशेषिकों का ठोस साङ्कर्य-रहित पाया जाता है उतना औरों का नहीं।

फिर भी यह सर्वथा ध्यान रखने की बात है कि यहाँ मैंने विवेचन में अपने को वैशेषिकों के हाथ बेच नहीं डालाहै। जहाँ जो मुझे अच्छा मालूम हुआहै स्वतन्त्रता-पूर्वक आक्षेप-शून्य-भावसे तटस्थतया मैंने उसका ग्रहण किया है। एवं ससम्मान यथासम्भव मतान्तरों का समावेश किया है। किसी का व्यर्थ खण्डन या अपमान करना मेरा लक्ष्य नहीं।

जिन विशिष्ट विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य-सम्मति देकर इसके सम्बन्ध-

में मुझे आश्वस्त करने का अनुग्रह कियाहै उनके निकट सविनय नमस्कृति द्वारा कृतज्ञता-प्रकाश के अतिरिक्त मैं क्या उपस्थित कर सकता ?

यह उल्लेखनीय है कि मेरे स्निग्ध छात्र अ० शा० श्री गङ्गाधर शर्मा काव्यतीर्थ ने प्रेसकापी तैयार करने में एवं प्रूफ पढ़ने आदि में सोत्साहतत्परता के द्वारा इसके प्रकाशन में बड़ी सहायता पहुँचाई है।

यद्यपि मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं कि स्वकीय अर्थव्ययसे इस पुस्तक का मुद्रण कराऊँ फिर भी अगत्या एतदर्थ प्रवृत्त होना ही पड़ा। आज भी देश की सामाजिक सुव्यवस्था ऐसी नहीं कि ऐसे ग्रन्थों का मुद्रण और प्रकाशन अनायास हो सके।

यह केवल पुस्तक का प्रथम भाग ही अभी स्वाधीन-भारतीयजनता के समक्ष उपस्थित किया जारहाहै। यदि विज्ञ जनता इसका आदर करेगी तो अन्य भागों के प्रकाशनार्थ भी मुझे उत्साहवल प्राप्त होगा।

जो लोग विवेचन-पूर्वक एतद्‌गत त्रुटि का मुझे ज्ञान करायेंगे उन्हें मैं उसके सम्मार्जनार्थ अपना श्रेष्ठ बन्धु समझूँगा।

इति

विनीत—

आनन्दझा

संक्षिप्त-

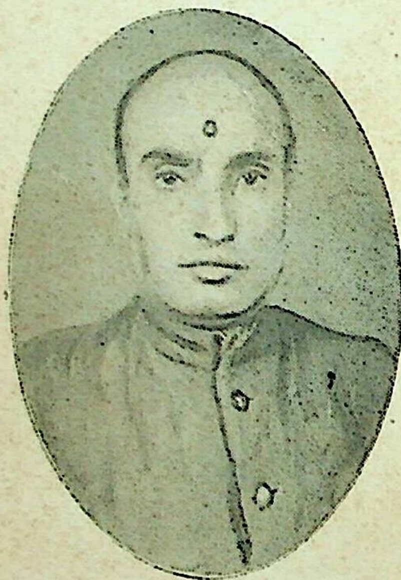
विषय-सूची-

द्रव्य-ग्रन्थ-

विषय — पृष्ठ

पदार्थ-शास्त्र





प्रणेता

卐

पदार्थ-शास्त्र

पदार्थ

मनुष्योंकी तो बात ही क्या, छोटेसे छोटे प्राणी कीट-पतङ्ग पर्यन्तमें भी कुछ न कुछ समझ अवश्य होती है। अपने जीवन निर्वाह के लिए अपेक्षित ज्ञान उन्हें भी होता है। अन्यथा उन्हें इच्छा न होगी। फिर जीवनधारण के लिए अपेक्षित साधनों में प्रवृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि वस्तुको जाने विना उसके लिए इच्छा नहीं होती और इच्छाके विना कभी प्रवृत्ति नहीं होती यह सर्वसम्मत है। अतः ज्ञान प्रत्येक प्राणीको होता है यह मानना ही पड़ेगा। विषयके विना ज्ञान कभी नहीं होता। साधारण लोग भी कहा करते हैं कि "वे इस विषयके अच्छे ज्ञाता हैं," "उन्हें इस विषयका अच्छा ज्ञान है," "वे इस विषयको बिलकुल नहीं जानते" इत्यादि। अतः यह भी मानना पड़ेगा कि यदि ज्ञान है तो उसका विषय भी है। उसी विषयको 'वस्तु,' 'पदार्थ' आदि संज्ञा दी जाती है, क्योंकि लोग ऐसा भी कहा करते हैं कि "वे इस वस्तुके अच्छे ज्ञाता हैं", "उन्हें इस वस्तुका अच्छा ज्ञान है", "वे इस वस्तुको बिलकुल नहीं जानते।" अथवा "वे इस पदार्थके अच्छे ज्ञाता हैं", "उन्हें इस पदार्थका अच्छा ज्ञान है", "वे इस पदार्थको बिलकुल नहीं जानते" इत्यादि। वस्तुओंको पदार्थ इस लिए कहते हैं कि संसारकी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो किसी शब्दसे अभिहित न हो, जिसकी कोई संज्ञा अर्थात् कोई नाम न

हो, जो किसी नामसे निर्धारित न की जा सकती हो। अतः ज्ञानके विषय सभी वस्तुओंको 'पदार्थ' मानना ही पड़ेगा। पद और अर्थ इन दो शब्दोंके योगसे 'पदार्थ' शब्दकी निष्पत्ति होती है। 'पद' है नाम और 'अर्थ' है उसका वाच्य अर्थात् उस शब्दसे कही जानेवाली वस्तु। जैसे पुष्प शब्द है पद और सुगन्ध आदि स्वभाववाली वस्तु है उसका अर्थ। अतः वह पदार्थ कहा जायगा। इसी प्रकार संसारकी जो भी वस्तुएँ हैं, जिस किसी भी विषयका ज्ञान होता है, वे सभी पदार्थ हैं।

पदार्थके प्रभेद।

यों तो पदार्थके प्रभेद अनन्त हैं, उनकी गणना अनन्त है। ज्ञानका तारतम्य कभी न हो सकता, यदि पदार्थ एक ही होता। एकाधिक किन्तु परिगणनयोग्य मानने पर उक्त तारतम्यकी सिद्धि होनेपर भी अनुभवसिद्ध असमञ्जता कभी न हो पाती। अर्थात् प्रयत्नपूर्वक जितना भी ढूँढ़ा जाय ऐसे दो ज्ञाता कभी न मिलेंगे जिनके ज्ञान के विषयों की संख्या समान हो। यदि विषय परिगणित होते तो ऐसे प्राणी भी पाये जाते जिनके ज्ञानके विषयोंकी संख्या कदाचित् समान होती। तथापि जिस प्रकार मनुष्य के असंख्य होनेपर भी 'मनुष्य' रूपसे हम उन्हें एक समझते हैं, उसी प्रकार पदार्थोंके असंख्य होनेपर भी सामान्यतः उनकी गणना की जा सकती है। 'वे इतने प्रकार हैं,' 'पदार्थके इतने प्रभेद हैं' यह कहा जा सकता है। इसी कारण से पुरातन पदार्थशास्त्रियोंका कहना है कि पदार्थके प्रभेद सात हैं, यथा—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म्म, (४) सामान्य, (५) विशेष (६) समवाय और (७) अभाव।

कुछ आचार्योंने प्रमाण, प्रमेय आदि रूपसे पदार्थोंका विभा-

जन किया है, किन्तु वह वास्तविक विभाजन इसलिए नहीं कहला सकता कि प्रमाण-प्रमेयभाव नियत नहीं होता। अर्थात् कभी प्रमाण भी प्रमेय और प्रमेय भी प्रमाण हो जाता है। जैसे दीपसे जब अन्य पदार्थोंको देखते हैं, तब दीप होता है प्रमाण क्योंकि उसके सहारे अन्य दृश्य देखे जाते हैं। फिर वही प्रदीप जब आखोंसे देखा जाता है तब आँखोंके प्रमाण होनेके कारण प्रदीप हो जाता है प्रमेय। जिससे देखाजाय वह होता है प्रमाण और जो देखा जाय वह होता है प्रमेय। अतः प्रमाण-प्रमेय आदि रूपसे पदार्थोंका विभाजन वास्तविक नहीं। उसे दृष्टिभेदमात्रका व्यापक समझना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि पदार्थ के प्रभेद दो हैं—भाव और अभाव। फिर भाव पदार्थके प्रभेद छः हैं—जैसे द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष और समवाय। कुछ लोग द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीनों को ही भाव पदार्थ मानते हैं। पदार्थोंकी संख्याके सम्बन्ध में भारतीय पुरातन विद्वानों में बहुत मतभेद उपलब्ध होता है। उसका विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

द्रव्य पदार्थ

द्रव्य पदार्थ उसे कहते हैं जो रूप रस आदि गुणों का आधार हो। अर्थात् कोई न कोई गुण उसमें अवश्य हो। जैसे "फल" द्रव्य है क्योंकि नील, पीत आदि कोई न कोई रूप और कोई न कोई रसभी उसमें अवश्य होता है। ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं जिसमें कोई न कोई गुण न हो। कुछ लोगों का कहना है कि जिसमें "चलन" हो अर्थात् जो हिल डोल सकताहो वह है द्रव्य। फूल हिल डोल सकता है अतः वह द्रव्य है। किन्तु

यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि आकाश भी द्रव्य है किन्तु व्यापक होने के कारण उसमें चलन नहीं। आत्मा भी द्रव्य है किन्तु कम्पन उसमें भी नहीं। अतः चलनवाला ही द्रव्य है यह कथन उन्हीं का हो सकता है जो पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों को ही द्रव्य मानते हैं, अधिक द्रव्य नहीं मानते। कुछ दार्शनिक शक्ति और शक्तिमान की भाँति गुण और गुणी को जैसे रूप और रूपवालेको भी एकही पदार्थ मान बैठते हैं। किन्तु यह इसलिए ठीक नहीं कि किसी भी पदार्थकी स्वतन्त्र-रूत्ता प्रामाणिक-लोकबुद्धिके आधार पर ही अवलम्बित है। कोई भी अभ्रान्त मनुष्य ऐसा नहीं समझता अथवा कहता है कि "रूप फूल है"। किन्तु "फूलका रूप नील है" अथवा "फूल नील रूपवाला है" ऐसा ही समझता एवं कहता है। अतः गुण और गुणी एक नहीं माने जा सकते। द्रव्य पदार्थ को कुछ लोग "पुद्गल" भी कहते हैं।

द्रव्य पदार्थों के प्रभेद।

जिस प्रकार पदार्थ असंख्य होने पर भी वर्गीकरणसे उनकी संख्या सात होती है उसी प्रकार वर्गीकरणके अनुसार द्रव्योंकी संख्या नौ होती है। अर्थात् द्रव्य पदार्थ नौ प्रकार होते हैं। जैसे (१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा, और (९) मन। कुछ दार्शनिक पृथिवी, जल, तेज, वायु और आत्मा इन पाँचोंको ही द्रव्य मानते हैं। कुछ लोग पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारोंको ही द्रव्य मानते हैं। कुछ लोग उक्त नौ प्रकारसे अतिरिक्त अन्धकारको भी अधिक द्रव्य मानते हैं। इन मतवादोंकी विवेचना यथास्थान की जायगी।

पृथिवी

यहाँ 'पृथिवी' शब्दसे केवल वही नहीं समझना चाहिए, जो शब्दकोशोंमें धरा, धरित्री, अचला आदि शब्दोंसे अभिहित है, किन्तु छोटेसे छोटे पार्थिव कणसे लेकर महापृथिवी पर्यन्त भी समझना चाहिए। पृथिवी वह है जिसमें स्वतः या जलानेपर गन्ध अवश्य उपलब्ध हो, अन्यथा उससे बने बड़े पार्थिव पदार्थोंमें भी गन्ध न पायी जा सकेगी। जिस फूल के अवयवोंमें जो गन्ध नहीं होती उस सम्पूर्ण फूलमें भी वह नहीं पायी जाती। परमाणुस्वरूप पार्थिव कणमें गन्ध इसलिए ज्ञात नहीं होता कि प्रत्यक्षका कारण होनेवाला महत्—परिमाण उसमें नहीं होता। द्रव्यके प्रत्यक्षमें द्रव्यगत महत्त्व, और गुण आदिके प्रत्यक्षमें गुण आदि के प्रति आश्रयीभूत द्रव्यगत महत्त्व कारण होता है। पत्थरोंमें गन्ध होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नाकसे इसलिए नहीं होता कि वह अस्फुट है। स्फुट रूप, रस, गन्ध आदि का ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। यदि पत्थरमें मूलतः गन्ध न होती तो उसे जलाने पर भी उसमें गन्ध मालूम न होती, क्योंकि यह मानना ही पड़ेगा कि पत्थर और उसकी भस्म दोनोंके आरम्भक परमाणु एक ही हैं, पार्थिव ही हैं। किसी कपड़े के टुकड़े कर देनेपर भी टुकड़ोंके धागे वे ही रहते हैं जो कपड़ेके आरम्भक होते हैं। सुतरां यदि जले हुए पत्थरमें गन्ध है तो बेजलेमें भी है ऐसा मानना पड़ेगा। 'गन्ध' पदसे सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों समझना चाहिए। केवड़ाजल, गुलाबजल आदिमें जो गन्ध पायी जाती है, वह तत्त्वतः जलकी नहीं अपितु पृथिवीकी ही होती है, क्योंकि उन फूलोंके सम्बन्धके विना जलमें वह गन्ध नहीं पायी जाती। पृथिवीमें कहीं सुगन्ध और कहीं दुर्गन्ध अवश्य रहती है।

पृथिवीके प्रभेद।

सामान्यतः पृथिवी दो भागोंमें विभक्त की जा सकती है— नित्य पृथिवी और अनित्य पृथिवी। नित्य पृथिवी वह है जो 'परमाणु' शब्दसे अभिहित होती है। प्राचीन दार्शनिकों ने परमाणुको नित्य इसलिए माना है कि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह निरवयव हुआ करता है। जो सावयव है वह 'परमाणु' नहीं। परमाणु शब्दका प्रतिपाद्य वह है जिससे छोटा न हो। परमाणुके दो टुकड़े भी नहीं किये जा सकते। जो द्रव्य विभक्त नहीं किया जा सकता उसका नाश भी नहीं हो सकता। फूल, फल आदि द्रव्य नाशशील इसलिए होते हैं कि वे अनेक भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। जो किसी भी साधनसे विभक्त नहीं किया जा सकता अर्थात् जिसके अवयवोंका विश्लेषण नहीं किया जा सकता वह कभी अनित्य नहीं। परमाणुको भी प्राचीन दार्शनिकोंने ऐसा ही माना है, अतः वह नित्य है।

प्राच्य-ग्रन्थोंके अनुशीलनसे पता चलता है कि आधुनिक वैज्ञानिक जिसे परमाणु कहते हैं एवं जिसके सम्बन्ध में कहते हैं कि वह तोड़ा भी जाता है, वह तत्त्वतः परमाणु नहीं, पारिभाषिक परमाणु है क्योंकि निरवयव पदार्थ तोड़ा नहीं जा सकता। सावयव वस्तुको तोड़ते-तोड़ते उसका ऐसा भी कोई भाग अवश्य रह जायगा जो तोड़ा न जा सके। परमाणुको निरवयव माननेमें प्राच्य विवेचकोंने यह भी युक्ति दी है कि वह यदि सावयव माना जाय तो तुल्य-युक्त्या उसके अवयवोंको भी सावयव मानना पड़े, इस प्रकार अवयवावयवधारा चल पड़ेगी। फिर राई और पर्वतके परिमाणमें कोई अन्तर होना एवं समझना कठिन हो जायगा, क्योंकि

दोनोंकी ही अवयवावयवधारा अनन्त होगी। परमाणुको निरवयव माननेपर यह दोष इसलिए नहीं हो पाता कि निरवयव परमाणुओंकी संख्याका तारतम्य दोनोंके परिमाणोंमें अन्तरका नियामक हो जाता है, अर्थात् राई जितने परमाणुओंसे बनी है, पर्वत उससे कहीं अधिक परमाणुओंसे बना है, अतः दोनों समान परिमाणवाले नहीं हो सकते। जैसे दस तन्तुओंसे बने और हजार तन्तुओंसे बने कपड़े समान परिमाणवाले नहीं होते।

निरवयव परमाणुके स्वीकारमें एक युक्ति यह भी है कि जिस प्रकार महत्-परिमाणका तारतम्य आकाश, आत्मा आदि व्यापक वस्तुमें जाकर सीमित अर्थात् विश्रान्त हो जाता है, उससे बड़ी कोई भी वस्तु नहीं होती, उसी प्रकार अणुत्व भी कहीं सीमित होगा। ऐसी भी कोई वस्तु होगी जिससे छोटी कोई वस्तु न हो। जो पदार्थ सबसे छोटा होगा वही होगा परम अणु, अतः वही परमाणु कहलायगा। इस परमाणु रूप नित्य पृथ्वीका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो पाता कि उसमें महत्त्व नहीं। प्रत्यक्षके प्रति महत्त्व कारण है। कुछ लोग अवयवधाराकी सीमा तो मानते हैं, किन्तु उस सीमास्थान निरवयव द्रव्यको परम अणु नहीं मानते। उसे निरवयव, नित्य किन्तु महान् अर्थात् मध्यम महत्त्वसे युक्त मानते हैं। पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि अवयवधारा के विश्रामस्थानको जो लोग परमाणु कहते हैं वे द्व्यणुकोत्पत्ति के क्रमसे जो त्र्यणुक उत्पन्न होता है अर्थात् दो दो परमाणुओंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले तीन द्व्यणुकोंसे जो त्र्यणुक नामकी वस्तु उत्पन्न मानी जाती है, उसे ही नित्य निरवयव मान लेते हैं। उससे अतिरिक्त द्व्यणुक और परमाणु नहीं मानते। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अवयवधाराका विराम और उस विरामस्थानकी नित्यता दोनों ही मतोंमें

समान है, भेद केवल इतना है कि पूर्व मतमें परम अणु होनेके उस विरामस्थानको परमाणु कहते हैं और द्वितीय मतमें मध्यम महान् होनेके कारण उसे परमाणु नहीं कहते, अपितु "त्रुटि" आदि शब्दोंसे अभिहित करते हैं। यदि परमाणु शब्द यौगिक न मानकर निरवयव किन्तु परममहान्से अतिरिक्त वस्तुके अर्थमें रूढ़ या पारिभाषिक मान लिया जाय तो उस त्रुटि को परमाणु कहनेमें भी कोई बाधा न रहेगी। रहस्य यह है कि महत्त्व यदि निरपेक्ष भी हो तो द्वितीय मतवाद सङ्गत हो सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि 'त्रुटि' में महत्त्व किस छोटे द्रव्यके छोटेपनकी अपेक्षा कर सकेगा? पूर्वमतवादमें द्व्यणुक उसे कहा जाता है जो दो परमाणुओंके और त्र्यणुक उसे जो तीन द्व्यणुकोंके संयोगसे उत्पन्न होता है।

जन्य पृथिवीके प्रभेद।

जन्य पृथिवी के दो प्रभेद हैं—उपभोग्य और उपभोग-साधन। उपभोग्य वे हैं जिनके सम्पर्कसे शरीरी सुख वा दुःखका उपभोग करते हैं अर्थात् अपनेको सुखी अथवा दुःखी समझते हैं। जैसे फूलको देख या सूंघकर लोगोंको सुख होता है, अतः वह उपभोग्य है। इस उपभोग्य पृथिवीके प्रभेद असंख्य हैं। उपभोग-साधनभूत पृथिवीके दो प्रभेद हैं—शरीर और इन्द्रियाँ। ये उपभोगके साधन इसलिए हैं कि शरीर एवं इन्द्रियोंके बिना जीवात्मा सुख वा दुःखका भोग एवं अनुभव नहीं कर सकता। परमाणुस्वरूप नित्य पृथिवी उपभोग्य इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसके सम्पर्क से प्राणीको कोई सुख दुःख नहीं होता, यहाँ तक कि उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता।

शरीरस्वरूप पृथिवीके चार प्रभेद हैं—जरायुज, अण्डज,

स्वेदज और उद्भिज्ज। गर्भस्थ बच्चे जिस थैले में रहते हैं उसका नाम जरायु है। लोग उसे जर भी कहते हैं। मनुष्य, पशु आदिके शरीर उसीके भीतर उत्पन्न होते हैं एवं जन्मके पहले उसीमें पलते हैं अतः उन्हें 'जरायुज' कहते हैं। पक्षी एवं सर्प आदिके शरीर अण्डेसे उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें 'अण्डज' कहते हैं। 'स्वेदज' वे कहलाते हैं जो शारीरिक वा अशारीरिक बाष्पोंसे उत्पन्न होते हैं। जैसे शरीर एवं कपड़े आदि में उत्पन्न होनेवाले जूँ प्रभृति। जो पृथिवीको भेदनकर अर्थात् फोड़कर उत्पन्न होते हैं उन्हें 'उद्भिज्ज' कहते हैं। जैसे लता, वनस्पति आदि।

आधुनिक वैज्ञानिकोंका कहना है कि जरायुज एवं उद्भिज्ज शरीर भी तत्त्वतः अण्डज ही होते हैं। ऋतुकालमें गर्भाशयस्थित डिम्ब (अण्डे) के साथ तेजस्वी शुक्रकीट का संयोग होनेपर ही मनुष्य-पशु-शरीर बनते हैं एवं जूँ, मच्छर आदिके भी अण्डे ही होते हैं। अतः स्वेदज शरीर भी अण्डज हुए। यदि व्यापक दृष्टिसे देखा जाय तो लता वनस्पति आदिके बीजोंको भी अण्ड कहा जा सकता है। स्मृति प्रभृति ग्रन्थों से तो उक्त वैज्ञानिक मतवादकी और पुष्टि होती है क्योंकि जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माकी उत्पत्ति अण्डसे ही हुई बतायी गयी है। फिर प्राचीन पदार्थ-शास्त्रियोंने शरीरका जरायुज आदि जो प्रभेद बतलाया है उसका कारण यह है कि उन्होंने लौकिक एवं लोकसिद्ध-शब्द-प्रयोगात्मक व्यवहारके ही आधार पर पदार्थों का अस्तित्व मान-कर सर्वप्रथम आधुनिक विज्ञानवादकी नींव डाली है। जरायुको या लता वनस्पति आदिके बीजों को कोई अण्ड नहीं कहता, अतः सभी अण्डज नहीं कहलाता है। प्राचीन पदार्थशास्त्रियोंने शरीरोंको प्रथमतः दो भागोंमें विभक्त किया है—योनिज और अयोनिज। उक्त चार प्रकारके शरीरोंमें जरायुज और अण्डज

ये दोनों योनिज होते हैं और स्वेदज एवं उद्भिज्ज तथा स्वर्गीय एवं नारकीय शरीर अयोनिज होते हैं। योनिजका अर्थ है शुक्र और शोणित इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न और अयोनिजका अर्थ है उस संयोगकी अपेक्षा न करके उत्पन्न मनुष्य, पशु, पक्षी, आदिके शरीर स्त्री-पुरुष-संयोगकी अपेक्षा रखते हैं अतः वे योनिज होते हैं। यूका, मच्छर आदिके शरीरों एवं लता, वृक्षादि शरीरोंमें उसकी अपेक्षा नहीं होती अतः ये अयोनिज होते हैं। सारांश यह कि योनिज और अयोनिजमें योनि शब्दका अर्थ कारण मात्र नहीं, क्योंकि कारणके बिना तो कुछ उत्पन्न होही नहीं सकता।

हित वस्तुकी प्राप्ति और अहित वस्तुके परिहारके अनुकूल क्रियाका नाम है चेष्टा। यह चेष्टा जिसमें हो वही है शरीर। वृक्ष आदि स्थावर शरीरोंमें स्थूल चेष्टा न होनेपर भी सूक्ष्म चेष्टाएँ हैं। अन्यथा उनका जीवन मरण न हो।

शरीर, इन्द्रिय और विषय इन प्रभेदोंसे विभक्त पृथिवीमें प्राणियोंकी नासिका, इन्द्रियस्वरूप पृथिवी है क्योंकि उसीसे पृथिवीके असाधारण गुण गन्धका साक्षात्कार होता है। अन्यथा ऐसा होनेमें कोई कारण ही न रह जाता। गन्धका ही क्यों, रूप, रस आदि अन्य गुणोंका प्रत्यक्ष भी नाकसे हो पाता। यद्यपि पार्थिव होनेके कारण नाकमें भी गन्ध है, किन्तु स्वगत गन्धका प्रत्यक्ष उससे सदा इसलिए नहीं होता कि गन्धसहित नाक इन्द्रिय है, अतः उसमें रहनेवाली गन्ध भी उपभोगसाधनके अन्तर्गत हो जाती है, सुतरां वह उपभोग्य नहीं हो सकती। अतः उसी नाकसे उसी नाककी गन्ध नहीं समझी जाती। एक कारण यह है कि इन्द्रिय होनेके कारण नाक जैसे अतीन्द्रिय है वैसेही उसमें रहनेवाली गन्ध भी अतीन्द्रिय है अतः नाकके समान तद्गत

गन्धका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। नाक अतीन्द्रिय है। अज्ञ लोग जिसे नाक कहते हैं तत्त्वतः यह नाक नहीं वह तो उसके अग्रभागमें रहनेवाली अप्रत्यक्ष वस्तु है। मुखमण्डल-प्रदेशमें साधारणतया नाक शब्दसे अभिहित अवयवमें कोई विघटन न होनेपर भी कभी किसी रोग आदिके कारण पुष्प आदिकी गन्धका प्रत्यक्ष लोग नहीं भी कर पाते। यदि स्थूल शारीरिक अवयव ही नाक हो तो ऐसा नहीं हो सकता। अतः मानना पड़ेगा कि उस मांसमय पिण्डसे अतिरिक्त किन्तु उसके ही अग्रभागमें रहनेवाली नासिका नाम की अतीन्द्रिय इन्द्रिय वस्तु है जिसके नष्ट अथवा विकृत होजानेपर उक्त परिस्थिति होती है। नाक गन्धके पास नहीं जाती किन्तु विषयभूत गन्ध ही अपने आश्रयके साथ नाकसे सन्निकृष्ट होती है जिससे उसका प्रत्यक्ष होता है।

यह महापृथिवी भी जन्य पृथिवी है जिसपर अन्य सभी चर-अचर पदार्थ आसीन हैं। आधुनिक अन्वेषक इसे सूर्यसे उत्पन्न मानते हैं। इस बातकी पुष्टि 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस वेदमन्त्रसे भी होती है। परमाणुसे द्व्यणुक आदि उत्पत्तिक्रमसे इस महापृथिवीकी उत्पत्ति होती है यह प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंका कथन है। वह भी इसलिए असङ्गत नहीं कि सूर्य भी केवल तेजःपुञ्ज नहीं किन्तु जाज्वल्यमान अग्निपुञ्जके समान उसमें भी पार्थिव अंश प्रचुरमात्रामें हैं। अतः स्फुलिङ्गके समान सूर्यसे निर्गत रेणुनिकर तापरहित होकर जब परस्पर सम्बद्ध हुए तब द्व्यणुक आदिकी उत्पत्तिक्रमसे इस विशाल पृथिवीकी उत्पत्ति हुई। ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं प्राप्त होती।

इस महापृथिवीकी आकृति गोल है इसीलिए 'भूगोल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक अन्वेषक इसे गोलाकार

मानते हुए भी उत्तर-दक्षिणभागमें कुछ चिपटीसो मानते हैं। इनका कहना है कि यह उत्तर मेरुसे लेकर दक्षिण मेरुतक सात हजार आठ सौ निन्यानवे मील लम्बी है। और यह कि घण्टेमें ६० मीलके वेगसे चलनेवाली गाड़ीपर चढ़कर यदि इसकी परिक्रमा की जाय तो इसके लिए २१ अहोरात्रकी अपेक्षा होगी। अर्थात् फी घंटे साठ मीलकी गतिसे लगातार इक्कीस दिन-रातमें इसकी परिक्रमा की जा सकती है। इन वैज्ञानिकों का कहना है कि पृथिवीमें विलक्षण आकर्षणशक्ति है इसीलिए कोई भी पदार्थ ऊपरसे नीचेकी ओर ही आता है। इसीके सहारे मेघ नीचेकी ओर आकृष्ट होकर जलवर्षण करता है। किन्तु प्राचीन पदार्थ-शास्त्री केवल पृथिवीगत आकर्षणशक्तिसे ही किसी भी वस्तुका पतन नहीं मानते। वे कहते हैं कि गुरुत्व अर्थात् भारीपन पतनके लिए अपेक्षित है। अन्यथा दीपकी शिखा पृथिवी से आकृष्ट होकर निम्नमुख क्यों नहीं होती?

जल

पृथ्वीके समान जल भी द्रव्य पदार्थ है। जिसमें स्वाभाविक शीतल स्पर्श हो उसे जल समझना चाहिए। अन्यत्र जहाँ भी शीतल स्पर्श उपलब्ध होता है वह जलके सम्मिश्रणसे ही प्रतीत होता है। जैसे चन्दन आदिकी शीतलता वस्तुतः जलके सम्पर्कसे ही प्रतीत होती है। सीताकुण्ड, गौरीकुण्ड आदिका जल यद्यपि उष्ण पाया जाता है तथापि उसकी वह उष्णता स्वाभाविक नहीं। गन्धक आदि उष्ण खनिज द्रव्योंके सम्पर्कसे ही वह उष्ण प्रतीत होता है। वह उष्ण जल भी कुण्डसे निकालकर अलग रख देने-पर क्रमशः शीतल ही हो जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि जलका शीतल स्पर्श स्वाभाविक है। उष्णता उसमें आगन्तुक है।

जलमें द्रवत्व भी स्वाभाविक है। द्रवत्वका ही अपर नाम है तरलता। इस तरलता के ही कारण जलका कोई खास आकार नहीं होता। आधारके अनुसार ही जल आकार धारण करता है। यदि किसी त्रिकोण पात्रमें जल रख दिया जाय तो वह भी त्रिकोण प्रतीत होता है। आधुनिक अन्वेषकोंका कहना है कि जलमें यह विशेषता है कि इसमें पदार्थोंका गुरुत्व घट जाता है। अर्थात् पदार्थोंमें भारीपनके बदले हलकापन आ जाता है। क्योंकि घड़ेभर कोई वस्तु जलके बाहर उठा ले जानेमें जितना आयास होता है उससे कहीं कम आयास होता है उसीको जलमें उतरा डुबाकर ले जानेमें।

परन्तु विचार करनेपर यह सङ्गत नहीं मालूम होता कि जलमें किसी वस्तुके वजनमें कमी हो जाती है। अन्यथा जलसे बाहर करते ही फिर उसी वस्तुमें उतना ही भारीपन कहाँसे आ जाता? यह सही है कि जलमें और उसके बाहर भरे घड़ेके भार की न्यूनता और अधिकताका भान होता है। एवं आयासमें भी तारतम्य होता है। किन्तु भान और वास्तविकता दोनों एक नहीं। मरुमरीचिकामें जलका भान होता है परन्तु तत्त्वतः वहाँ जल नहीं। जलमें पदार्थके वजनमें जो कमी मालूम पड़ती है इसका कारण है जलकी विलक्षण धारणशक्ति जिसके सहारे वह नौका, जहाज आदि भारीसे भारी पदार्थोंका भी धारण कर सकता है। जलसे विधारित होनेके कारण ही जलमें किसी पदार्थका भार घट गया-सा मालूम पड़ता है। जैसे कोई भारी वस्तु जब एकही मनुष्य उठाता है तब जितना भार मालूम पड़ता है उतना अधिक मनुष्योंके मिलकर उठानेपर नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि आयास बँट जाता है। परन्तु उस वस्तुमें गुरुत्व उतना ही रहता है। उसी

प्रकार जलके भीतर और बाहर भी किसी पदार्थका भार एक-सा ही रहता है, बदलता नहीं। केवल भान होता है कि भारमें तारतम्य हुआ। अपने सम्पर्कमें आनेवाली वस्तुमें ताजगी बनाये रखना जल द्रव्यका प्रधान गुण है।

जलके प्रभेद।

प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने पृथिवी-द्रव्यके समान जल-द्रव्यका भी नित्यजल और अनित्यजल रूपसे दो भागोंमें विभक्त किया है। नित्यजल वह है जो परमाणु शब्दसे अभिहित होता है। अविभाज्य जलकण परमाणु-जल कहलाता है। वह नित्य क्यों है? परमाणु क्यों कहलाता है? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तर वैसे ही समझने चाहिए जैसे 'पृथिवी-परमाणु" के विचारस्थलमें दिये गये हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक जलीय परमाणु नहीं मानते क्योंकि उनके मतसे जल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। उनका कहना है कि दो प्रकारके वायुके संयोगसे जल बन जाता है यह आज प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः जैसे दही कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, दूध का ही रूपान्तर है, वैसे ही वायुके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला जल भी कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं।

किन्तु प्राचीन पदार्थशास्त्रियोंका अभिप्राय यह है कि परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है। जिन वायुद्रव्यके संयोगसे प्रत्यक्षसिद्ध स्थूलजलकी उत्पत्ति देखी जाती है उनमें भी अतिसूक्ष्म जलीय परमाणु होते ही हैं। जलीय द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अवयवी जलद्रव्यकी उत्पत्ति होकर ही स्थूलजलकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि उपादान और उपादेयका साजात्य, द्रव्योंके उत्पादनमें अपेक्षित है। परमाणुओंसे विजातीय द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि वायु में उड़ते दो पार्थिव कण जुटकर पार्थिव द्रव्य ही उत्पन्न करते हैं

एवं तादृश दो तैजस-कण मिलकर तैजसद्रव्य ही, विजातीय द्रव्य नहीं, तो जलीय-परमाणुरहित दो वायु भी संयुक्त होकर वायु ही उत्पन्न करेंगे, जल नहीं। अतः मानना ही पड़ेगा कि दोनों वायु में अतिसूक्ष्म जलीयपरमाणु रहते हैं जो परस्पर जुटकर स्थूल जलकी उत्पत्ति करते हैं। अतः जलको भी पृथिवी आदिके समान ही स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए।

इसकी पोषिका अन्य भी युक्तियाँ हैं। यथा—जल सूख कर क्या हो जाता है? क्या वह फिर वायु बन जाता है? या सूर्य-रश्मिसे ऊपर खींच लिया जाता है? यदि कहा जाय कि वह वायु बन जाता है तो जलसे वायुकी उत्पत्ति होती है या वायुसे जलकी, इसका निर्णायक क्या होगा? यदि कोई नहीं, तो जल ही स्वतन्त्र और वायु ही अस्वतन्त्र द्रव्य क्यों न माना जाय? सूर्यरश्मिसे जल ऊपर खींच लिया जाता है, यदि यह कहा जाय, तो मानना ही पड़ेगा कि अतिसूक्ष्म जलीय-परमाणु ऊपर उड़ते रहते हैं। फिर तो वायुके साथ उनका होना और उनके संयोगसे स्थूल जलकी उत्पत्ति भी स्वाभाविक ही है। अतः वायुके समान जल भी स्वतन्त्र द्रव्य एवं जलीय परमाणुओंसे द्व्यणुक आदि क्रमसे स्थूल जल की उत्पत्ति भी स्वीकरणीय है।

तेज द्रव्य

तेज द्रव्य वह है जिसका स्पर्श उष्ण है एवं जो प्रकाशक होता है। अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि तेज द्रव्य हैं। किसी भी पदार्थ का परिपाक इसी तेज द्रव्य से होता है। यही कारण है कि कोई भी वस्तु गरमी में बहुत जल्द पक जाती या सड़ जाती है, और जाड़े में अधिक समय तक उसमें ताजगी रहती है। क्योंकि ग्रीष्ममें तैजस रेणु प्रचुरमात्रामें फैले रहते हैं। चन्द्रकिरणमें

भी उष्णस्पर्श है परन्तु उसका भान लोगोंको इसलिए नहीं होता कि चन्द्रमण्डलमें हिमका प्राधान्य है, उसके शीतलस्पर्शसे उष्ण-स्पर्शका अभिभव हो जाता है। इसी प्रकार रत्नोंका उष्णस्पर्श भी पार्थिव-अनुष्णाशीतस्पर्शसे अभिभूत रहता है अतः लोग उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इसी तरह सुवर्णका उष्णस्पर्श भी पार्थिवअनुष्णाशीतस्पर्शसे अभिभूत होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं होता। कुछ लोग रत्नों एवं सोनेको तेज नहीं मानते। उनका कहना है कि वे भी पार्थिव ही हैं। इसका विवेचन यथास्थान किया जायगा। यों तो पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारोंमें परस्पर कुछ न कुछ संश्लेष रहता ही है परन्तु पृथ्वी और जलमें तेजकी अनुस्यूति विशेषरूपसे रहती है, क्योंकि पृथिवी पृथिवीके संघर्षसे तेज प्रकट होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अग्निसे जलका विरोध होनेपर भी जलमें तेजकी अनुस्यूति इसलिए माननी ही पड़ेगी कि बिजली जलसे ही निकलती है। तेजकी एक विशेषता यह है कि वह बिलकुल हलका होता है; गुरुत्व अर्थात् भार उसमें होता ही नहीं। यही कारण है कि उलटाने पर भी दीप-शिखा ऊपरही उठती, नीचे नहीं जाती।

तेज द्रव्यके प्रभेद

तेज द्रव्य भी नित्य और अनित्य भेदसे दो प्रकारके होते हैं। परमाणु स्वरूप तेज पूर्व विवेचनानुसार नित्य हैं। नित्य तैजस परमाणुकी सिद्धि भी पूर्वप्रदर्शित युक्तियोंके आधारपर ही होती है। तैजस परमाणुओंके संयोगसे ही तैजसद्व्यणुक आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे बड़े तैजस पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है।

जन्य तेज भी पूर्ववत् उपभोग्य एवं उपभोग-साधन भेदसे दो प्रकारके होते हैं। यों तो उपभोग्य वस्तुके बिना उपभोग न

हो सकनेके कारण उपभोग्य भी उपभोग-साधन कहा जा सकता है, परन्तु उपभोग-साधन शब्दसे उपभोक्ताके अधीन होकर जो उपभोग-सम्पादनक्षम हो वह अभिप्रेत है। शरीर एवं इन्द्रियाँ उपभोक्ताके अधीन होती हैं, परन्तु उपभोग्य वस्तु ऐसी नहीं होती, क्योंकि अनेक स्थलमें उपभोक्ताके अनेक चेष्टा करनेपर भी वह नहीं मिलती। अनित्य-तेज पदसे छोटे द्व्यणुकात्मक तेजसे आरम्भकर चन्द्र सूर्य्य प्रभृति बड़े तेज तक समझना चाहिए क्योंकि ये सभी उत्पन्न हुए हैं और नष्ट होनेवाले हैं। शरीर एवं इन्द्रियोंको छोड़कर अन्य जितने तेज हैं जिनसे प्राणियोंको सुख वा दुःख मिलता है वे सभी उपभोग्य स्वरूप तेज हैं। शीतार्त मनुष्य आग किंवा सूर्य किरणसे शीत-दुःखसे छुटकारा पाकर सुखी होता है अतः आग, सूर्य्य आदि उपभोग्य तेज हैं। तैजस शरीर यद्यपि इस लोकमें नहीं पाया जाता तथापि तैजस-परलोकमें उसका होना वैसेही स्वाभाविक है जैसे इस भूलोक पर बसनेवाले प्राणियोंके शरीर भौम अर्थात् पार्थिव ही होते हैं। तैजस इन्द्रिय आखें हैं, क्योंकि दीप वा सूर्य्य आदिके प्रकाशसे जैसे किसी भी वस्तुका केवल रूपही देखा जाता है, रस गन्ध आदि गुण ज्ञात नहीं होता, और दीप, सूर्य्य आदि तेज ही हैं, उसी प्रकार आँखोंसे भी किसी वस्तुका नीला पीला रूप ही देखा जाता है, उसका रस गन्ध आदि गुण ज्ञात नहीं होता, अतः प्रदीप आदि-के समान ही आखें भी तेज ही हैं। प्राचीन पदार्थशास्त्रियोंने पृथिवी जल और तेज इन तीनोंको ही (१) शरीर (२) इन्द्रिय और (३) विषय इन तीन भेदोंमें बाँटा है। विषयरूप तेजको उन्होंने फिर चार भागोंमें विभक्त किया है, जैसे (१) भौम (२) दिव्य (३) उदर्य्य और (४) आकरज। आग जुगनू आदि

भौम तेज हैं। जलसे दीप्त होनेवाली बिजली दिव्य तेज है। जिससे खाये पीये अन्न जल फल आदि पचते हैं वह जठरानल है उदर्य तेज, और खानोंसे निकलनेवाले स्वर्ण हीरक आदि हैं आकरज तेज। दिव्य पदसे मेघमण्डलमें चमकनेवाली एवं यान्त्रिक प्रक्रियासे जलसे पैदा होनेवाली दोनों बिजली समझनी चाहिए।

सूर्य्य तेज

वेदमें "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" कहकर जो सूर्य्य समग्र स्थावर जङ्गमका कारण बताया गया है, उसके सम्बन्धमें आधुनिक वैज्ञानिकोंका मत है कि—सूर्य्य इतना महान् है कि उसकी महत्ता तेरह लाख पृथिवी की महत्ता के समान है। घण्टे में ६० मील चलनेवाली गाड़ीपर चढ़कर सूर्य्यकी परिक्रमा की जाय तो पाँच वर्ष समय लगे। पृथिवी से इसकी दूरी प्रायः ९ कोटि ३० लाख मीलकी है। प्रति घण्टा ३० मील की गतिसे यदि कोई गाड़ी चले तो पृथ्वीसे सूर्य्य तक पहुँचनेमें ३५० वर्ष लगें। सूर्य्य सामान्यतः तीन अंशोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक वह जो चमकती थालीके समान खाली आँखोंसे भी दीखता है। यह "आलोक मण्डल" कहलाता है जो मध्यवर्त्ती सूर्य्य पिण्डसे निर्गत जाज्वल्यमान वाष्पराशिसे निर्म्मित है। इस आलोक-मण्डलसे समस्त प्रकाश एवं ताप निकलकर चारों ओर फैलता है। आलोकमण्डलके चारों ओर उज्ज्वल वाष्पावरण है जो "वर्णमण्डल" कहलाता है। यह "वर्णमण्डल" भी नानाप्रकार धातु-वाष्पका समुदाय स्वरूप है। यह आवरण न होता तो और भी अधिक प्रकाश एवं ताप पृथिवी पर आता। फिर पृथिवी इतनी गरम हो जाती कि प्राणियोंके निवास योग्य ही न रह

जाती। सूर्य्यमें कल्पनातीत ताप होनेसे ताप-राशिका बहिर्निर्गम सर्वदा होता रहता और इसी कारण अति भीषण प्रवाहरूपमें परिचलन-स्रोत सर्वदा प्रवाहित होता रहता है। इसी परिचलन-स्रोतके कारण समान स्वर्णाकृति दृश्य उनकी चारों ओर उपस्थित होता है।

उक्त *परिचलन-स्रोत*—प्रयुक्त ही उक्त वर्णमण्डलसे सदा ही जाज्वल्यमान वाष्पराशि अत्यन्त ऊर्ध्वमुख उत्थित होकर विराट् "अग्निशिखा" अथवा सौर शिखाकी सृष्टि करता है। सूर्य्यग्रहण कालमें सूर्य्य आवृत होनेपर वह अग्निशिखा आवृत सूर्य्यांशके चारों ओर मुकुटके समान शाभित होती है। यही अंश "छटामण्डल" कहलाता है। दूरवीक्षण यन्त्रसे देखनेपर सूर्य्यमें कुछ काले गड्ढे दीखते जो सौर केतु कहलाते हैं। सौर केतुका मध्यांश गाढ़ा काला और पार्श्वांश कम काला हाता है। यह सौर केतु कभी कभी इतना बड़ा हो जाता है कि दूरवीक्षण यन्त्रके विना भी देखा जाता है।

सूर्य्यसे तापराशिका विकिरण अनर्गलरूपसे सर्वदा होता रहता है जिसके कारण सूर्य्यपिण्ड सर्वदा संकुचित हो रहा है। सूर्य्यके अभ्यन्तरसे स्फुलिङ्ग-राशिके समान वाष्पराशि सर्वदा अत्यन्त वेगसे ऊर्ध्वमुख उठ रही है। अतः जगह जगह गड्ढे हो जाते हैं। सूर्य्य चारों ओर जिन उष्णकणों का वर्षण करता है उसके बीस करोड़ भागोंका एक भाग मात्र पृथिवी पर आता है। अन्य सभी उष्णकण महाशून्यमें ही विलीन हो जाते हैं। सूर्य्य पृथ्वीसे ९ करोड़ मीलकी दूरी पर अवस्थित है, फिर भी उसका इतना ताप पृथ्वी पर आता है। भारतीय साहित्यमें सूर्य्य "जगच्चक्षु" अर्थात् समग्र प्राणियोंकी आँख कहलाता है। सूर्य्य और

आँखमें समता भी है क्योंकि वह वहाँ आकर विषयका प्रत्यक्ष कराता है और आँखकी भी रश्मि दृश्य तक जाकर उसका प्रत्यक्ष कराती है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकोंका कहना है कि आँख रश्मि रूपमें दृश्य देश तक नहीं जाती किन्तु गोलकरूप आँखमें दृश्य वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीसे प्रत्यक्ष होता है। इसके सम्बन्धमें विशेष विवेचन ज्ञान प्रकरणमें किया जायगा।

चन्द्रमा तेज

"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इस वेद वाक्यमें चन्द्रमाको राजा कहा गया है। विचार दृष्टिसे यह बात बिलकुल सही जँचती है। राजा जैसे पोषण-शक्तिके सहारे प्रजाओंका पालन करता है। वैसेही चन्द्रमा भी पोषणतत्त्वसे परिपूर्ण होनेके कारण प्राणियोंका पालन करता है। यही कारण है कि दिन में कार्य्यभारसे परिश्रान्त प्राणी रातमें विश्रान्ति पाकर नवजीवन प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिकोंका कहना है कि चन्द्रमा पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, इसीसे कभी दृश्य और कभी अदृश्य होकर शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षकी सृष्टि करता है। चन्द्रमा भी तेज है इसीसे यह वस्तुओंका प्रकाशन करता है। कितनेही वैज्ञानिकोंका कहना है कि चन्द्रमा स्वतः प्रकाशशील नहीं किन्तु उसके पर भागमें सूर्य्यका प्रकाश पड़ता है इसीसे यह प्रकाश देता है। परन्तु ऐसा होने पर भी वह है तेजही, अन्यथा सूर्य्यके प्रकाशसे भी उतना प्रकाशशील न होता। चन्द्र भी गोलाकृति है किन्तु उसका विस्तार सूर्य्यके जितना नहीं, वह केवल २१६० मील विस्तृत है। फिर भी सूर्य्यके समान ही इसलिए दिखाई देता है कि पृथ्वीसे केवल २४० लाख मील दूर है। आधुनिक अन्वेषकोंका कहना है कि चन्द्रमण्डलमें बहुत बड़े बड़े पर्वत हैं जिनके उन्नत-शृंगोंसे सूर्य्य-

किरणके अवरुद्ध होनेपर जो छाया पड़ती है उसीसे चन्द्रमण्डलमें काले धब्बे दिखाई देते हैं। कवि लोग उसीको मृग आदिका रूप देते हैं। अन्वेषकोंका यह भी कहना है कि चन्द्रमण्डलमें बहुत गड्ढे हैं। इनका आनुमानिक कारण यह बताया जाता है कि जैसे पृथ्वी पर आग्नेय पर्वतोंसे अनवरत ज्वाला निकलती है और स्थान स्थान पर तत्प्रयुक्त गड्ढे हो रहे हैं वैसेही किसी कालमें चन्द्रमण्डल स्थित गिरिशृंगों से भी आग्नेय ज्वाला निकलती थी और गड्ढे होगये। वर्त्तमानकालमें एक गर्त्त तो अत्यन्त विस्मय-कारक है, उसकी गहराई बीस हजार फूट और चौड़ाई बावन मील बतायी जाती है।

वायु द्रव्य

वायु वह है जिसमें रूप नहीं किन्तु स्पर्श है। अर्थात रूप न होने से जो दिखाई तो नहीं पड़ता किन्तु त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का प्रत्यक्ष होने पर उस स्पर्श के आश्रय रूप से जिसका अनुमान होताहै वह वायु है। आकाश आदि द्रव्यों मे भी रूप नहीं है किन्तु स्पर्श भी नहीं हैं अतः वे वायु नहीं। पृथिवी, जल, तेज में स्पर्श है तो रूप भी है अतः वे भी वायु नहीं। सुतरां वायु नामक द्रव्य मानना ही पड़ेगा। प्राणियों का श्वास-प्रश्वास वायु है। क्योंकि उसका रूप तो नहीं दीखता किन्तु स्पर्श मालूम पड़ता है। यद्यपि पहले तेज का यह स्वरूप बतलाया गया है कि वह "उष्ण स्पर्श युक्त होता है" तदनुसार श्वास-प्रश्वास भी तेज माना जाना चाहिए तथापि वह तेज इसलिए नहीं कि उसके स्पर्श की उष्णता स्वाभाविक नहीं। जठरानल से सम्बन्ध प्राप्तकर बाहर निकलनेके कारण वह गरम मालूम पड़ता है। तत्त्वतः श्वास-

प्रश्वासका स्पर्श न उष्ण है और न शीत, वह तो तृतीय प्रकारका अनुष्णाशीत है, अतः वह तेज नहीं कहला सकता। तेज वह द्रव्य है जिसका स्पर्श स्वाभाविक उष्ण हो। वायु प्रत्यक्ष नहीं होता। सनसन आवाज सुननेसे पृथिवी, जल, अथवा तेजके स्पर्शसे विलक्षण स्पर्शके प्रत्यक्ष होनेसे, रूई आदि हलकी वस्तुको निराधार उड़ते देखने से और वृक्षोंकी हिलती शाखाओंको देखनेसे वायुका अनुमान किया जाता है। क्योंकि सनसन शब्द पृथिवी, जल वा तेज किसीके संयोग विभागसे नहीं होता। वायु चलने पर मालूम होनेवाला स्पर्श पृथिवी, जल वा तेजका नहीं, क्योंकि तेजका स्पर्श उष्ण होता है। पृथिवीका स्पर्श अनुष्णाशीत होते हुए भी "पाकज" होता है किन्तु वायुका स्पर्श "अपाकज" अनुष्णाशीत होता है। पाकज अपाकजकी परिभाषा पीछे बतलायी जायगी। आकाश में उड़नेवाली रूई आदिका विधारक पृथिवी जल वा तेज कोई नहीं दीखता, और विधारकके विना निरवलम्ब आकाशमें विधारण नहीं हो सकता, अतः रूई आदिके विधारक रूपसे वायु मानना ही पड़ेगा। जब पृथिवी जल वा तेज किसीका आघात नहीं होता तब वृक्षोंकी शाखाएँ किससे आहत होकर डोलती हैं? अतः आघातक वायु है यह मानना ही पड़ेगा। इसी वायुके आधार पर समग्र चर अचर प्राणियोंका जीवन अवलम्बित है। क्योंकि श्वासप्रश्वाससे ही जीवनका प्रारम्भ होता और उसीका अन्त होनेपर जीवनका भी अन्त हो जाता है। वायुकी गति सीधी नहीं सर्वदा वक्र हुआ करती है। कुछ लोग कहते हैं कि वायुका चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी त्वक्से तो उसका प्रत्यक्ष होता ही है अतः उसका स्पार्शन-प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं मानते उनका कहना है कि किसी भी बाह्य इन्द्रियसे उसी द्रव्यका प्रत्यक्ष होता

है जिसमें रूप हो, वायुमें रूप नहीं अतः उसका त्वक्से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने वायुमें गुरुत्व अर्थात् वजन नहीं माना है किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकोंका कहना है कि वायु में वजन पाया जाता है। यहाँ विरोधाभासका परिहार यों किया जा सकता है कि वैज्ञानिक जिसे तौलते हैं वह केवल शुद्ध वायु नहीं। उसमें पार्थिव, जलीय, तैजस आदि परमाणु मिले होते हैं अतः गुरुत्व होना स्वाभाविक ही है। जैसे सोनेमें तत्त्वतः भारीपन नहीं क्योंकि वह तेज है और तेजमें गुरुत्व नहीं होता, किन्तु पार्थिव भाग—सम्वलित व्यावहारिक सोनेमें गुरुत्व होता है, वह तौला जाता है, उसी प्रकार वायु भी तौला जाता है किन्तु वह विशुद्ध नहीं। प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियोंने जिसमें गुरुत्व नहीं माना है वह है विशुद्ध वायु। जिस भूत के परमाणमें गुरुत्व नहीं उस स्थूल भूतमें भी वे गुरुत्व नहीं मानते। वहाँ उपलब्ध गुरुत्वको वे वैसे ही औपाधिक, आगन्तुक मानते हैं जैसे जलमें उष्णताको। प्राच्यपदार्थ-शास्त्रियोंका परमाणु उससे भिन्न ही है जिसे आधुनिक वैज्ञानिक परमाणु कहते हैं, यही इस विरोध या विरोधाभासका मूल कारण है कि "परमाणु" शब्द उभयत्र प्रयुक्त होता है।

वायुके प्रभेद

वायु भी नित्य और अनित्य भेदसे दो प्रकारके हैं। परमाणुरूप वायु नित्य है और द्व्यणुक से लेकर महाझंझा-वायु पर्यन्त अनित्य। परमाणुरूप वायु माननेकी युक्ति पूर्वोक्त समझनी चाहिए। पूर्वोक्त प्रक्रियाके अनुसार अनित्य वायु दो प्रकारके हैं। उपभोग्य और उपभोग-साधन। उपभोग-साधनके दो भेद हैं शरीर और इन्द्रिय। पिशाच आदिके शरीर वायवीय हुआ करते हैं। इन्द्रियरूप वायु त्वक् है क्योंकि वह पंखेके वायुके समान स्पर्श-

का ही ज्ञापक है, रूप आदिका नहीं। त्वक् पदसे चर्म्म नहीं समझना चाहिए। चर्म्म तो केवल आवरण होता है। त्वक् तो मांस तकमें है। यही कारण है कि शरीर में जहाँ चर्म्म बिलकुल कट जाता वहाँ भी मांस पर किसी वस्तु का संयोग होने पर स्पर्श-ज्ञान होता है। प्राच्य पदार्थशास्त्रियोंने त्वक् इन्द्रियके उपयोगके सम्बन्धमें यहां तक लिखा है कि स्पार्शन-प्रत्यक्षमें तो यह कारण है ही, अधिकन्तु इसकी विशेषता यह है कि जबतक इससे मनका संयोग न हो तबतक किसी भी प्रकारका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कोई भी ज्ञान नहीं होता। यही कारण है कि गाढ़-सुषुप्ति अवस्थामें कोई भी ज्ञान नहीं होता। अर्थात् त्वक् स्वतः स्पार्शन प्रत्यक्षमें तो कारण है ही, साथ ही मनसे संयुक्त होकर वह परोक्ष और अपरोक्ष सभी प्रकारके ज्ञानका भी कारण होता है। कुछ दार्शनिक तो यहाँ तक कहते हैं कि यही केवल इन्द्रिय है, जिसके तत्तत्स्थानोंमें रहनेके कारण कभी रूपका और कभी रसका ज्ञान होता है, आँख आदि इन्द्रियोंका अस्तित्व ही मानना नहीं। इस मतवादकी समीक्षा अन्यत्र की जायगी। सारांश यह कि त्वगिन्द्रिय मानना ही पड़ेगा। वायवीय शरीर अर्थात् पिशाच आदि शरीर यद्यपि दिखाई नहीं पड़ता तथापि उसका अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। जो वस्तु आँखोंसे देख न पड़े वह यदि हो ही नहीं तो फिर स्वयं आँखें भी नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि आँखें अपने से नहीं देखी जातीं। शरीररूप और इन्द्रियरूप वायुसे अतिरिक्त सभी जन्य वायुको उपभोग्य वायु समझना चाहिए। पूर्व परिभाषाके अनुसार उपभोग्य वायु वह है जिससे प्राणियोंको सुख वा दुःख हो। जैसे शीत ऋतु का वायु दुःखद होनेके और अन्य ऋतुका सुखद होने के कारण उपभोग्य हैं। श्वास प्रश्वासरूप प्राण-

वायु यद्यपि शरीर वा इन्द्रियरूप नहीं तथापि उसे उपभोग-साधन कोटिमें ही समझना चाहिए क्योंकि वह शरीरसे असम्बद्ध होकर उपभोगका विषय नहीं होता। और उपभोगकी उत्पत्तिमें उसकी पूर्ण अपेक्षा है। कुछ आचार्य्योंने पृथिवी जल, तेज इन तीन भूतोंको शरीर, इन्द्रिय और विषयरूपसे तीन तीन भागोंमें विभक्त किया है, और वायुको शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण इन चार भागोंमें। इसमें एकही बात खटकती है कि शरीर आदिके विभागों से अतिरिक्त यहाँ प्राणरूप एक अधिक विभाग मानना पड़ता है। कुछ लोग वायुको भी पृथिवी आदिकी तरह शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भागोंमें ही विभक्त कर, प्राणको भी विषय के ही अन्तर्भुक्त मानते हैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि विषयपदका अर्थ यदि उपभोगका विषय किया जाय तो प्राण उपभोगका विषय नहीं और यदि उपभोग-साधन, तो वह वैसा हो सकता है, क्योंकि प्राणीको ही उपभोग होता है। परन्तु तब शरीर एवं इन्द्रियाँ भी उपभोग-साधन होनेके कारण विषय हो जायंगी, फिर उक्त तीन प्रभेद नहीं बनेंगे। शरीरमें प्राणवायु तत्त्वतः एक ही है किन्तु विभिन्न स्थानोंमें वही (१) प्राण, (२) अपान, (३) उदान, (४) समान और (५) व्यान कहलाता है। मुँह और नाकमें सञ्चारके समय उसीका नाम प्राण, मल-द्वारमें सञ्चारके समय अपान, नाभि देशमें सञ्चारके समय समान, कण्ठमें सञ्चारके समय उदान एवं समग्र शरीरमें सञ्चारके समय व्यान होता है। ये संज्ञाएं यौगिक हैं। श्वास-प्रश्वासरूप प्राणन व्यापारके कारण वह कहलाता है प्राण, मल मूत्र आदिका अपनयन करता है अतः अपान, खाये पीये अन्नादिका समीकरण अर्थात् पाचन कर एकाकार करनेके कारण समान, भुक्त अन्नादिका उन्नयन अर्थात्

कण्ठ तक उठानेके कारण उदान और शोणित-सञ्चारके लिए शरीर-स्थित नाड़ियोंका वितनन करने अर्थात् फैलानेके कारण कहलाता है व्यान।

आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्य वह है जिसमें शब्द नामक गुण उत्पन्न होता है। आकाश एक ही है क्योंकि वह सर्वत्र समान ही है। शब्द गुणकी उत्पत्ति भी सर्वत्र समान भावसे ही होती है। फिर उसे अनेक माननेका कोई भी कारण नहीं। पृथिवी आदि महाभूतोंके समान वह अव्यापक भी नहीं किन्तु व्यापक है। व्यापकपदार्थ कभी अनित्य नहीं होता जैसे आत्मा अतः वह नित्य भी है। कुछ लोग पार्थिव आदि परमाणुके समान ही आकाशीय परमाणु भी मानते हैं किन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं कि परमाणु निष्कम्प नहीं होता। इसलिए सकम्प परमाणुसे निष्पन्न आकाश भी तब सावयव होता, सर्वव्यापी नहीं, अतः उसे सावयव न मानकर एक नित्य मानना ही सङ्गत है। यद्यपि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इस वेद वाक्यसे उसकी उत्पत्ति हुई-सी जान पड़ती है तथापि पदार्थ-शास्त्रियों ने सजातीयसे ही उत्पत्तिको सङ्गत मानकर ऐसा नहीं माना है। उनका कहना है कि वेद ऐसी चिन्ता करनेका आदेश होता है, जिससे कि आत्माकी सर्वश्रेष्ठता पर दृढ़ श्रद्धा और विश्वास हो। आत्मा आकाशका अवयव नहीं कि उससे आकाशकी उत्पत्ति होगी। साथ ही किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति अनेक द्रव्योंके संयोगसे होती है। जैसे कपड़ा बहुत तन्तुओंके संयोगसे और भवन बहुत ईंटोंके संयोगसे उत्पन्न होता है। फिर एक परमात्मासे आकाश द्रव्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती? यदि अनेक जीवात्माओंके संयोगसे उसकी उत्पत्ति मानी जाय तो

यह भी सङ्गत नहीं क्योंकि एक तो व्यापकोंका संयोग ही मान्य नहीं, दूसरे, संयोग माननेपर उसे भी अनादि-संयोग मानना पड़ेगा, फिर आकाशको भी अनादि ही मानना पड़ेगा। फिर उसकी उत्पत्ति कैसी?

कुछ लोग आकाश द्रव्यको इसलिए भी अतिरिक्त नहीं मानते कि जब आकाश भी व्यापक है और आत्मा भी तब दोनों एक ही क्यों न मान लिये जायँ? फलतः आत्मा द्रव्य ही शब्दका आधार बन जायगा। आकाशकी स्वतन्त्रसत्ता ही न रहेगी। किन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं कि आकाश परमात्मा-रूप माना जायगा या जीवात्मारूप? यदि परमात्मा माना जाय तो शब्दका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मामें होनेवाले ज्ञान इच्छा आदि गुणोंका प्रत्यक्ष नहीं होता। जीवात्मा स्वरूप माना जाय तो जीवात्माएँ तो एक नहीं अनेक हैं क्योंकि एक ही कालमें कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई रागी है तो कोई विरक्त, फिर आकाश किस जीवात्माका स्वरूप माना जाय? जो शब्द सुनता है उस जीवात्मास्वरूप वा अन्य जीवात्मा स्वरूप? यदि शब्द प्रत्यक्ष करनेवाले जीवका रूप उसे माना जाय तो जैसे "मैं ज्ञानी हूँ, मुझे ज्ञान हुआ है" इस प्रकार स्वगत ज्ञान आदिका प्रत्यक्ष प्रत्येक प्राणीको होता है वैसे ही "मैं शब्दवाला हूँ, मुझे शब्द हुआ है" इस प्रकारकी समझ होनी चाहिए। किन्तु ऐसा कोई समझता तो नहीं। फिर आकाश शब्द-प्रत्यक्ष करनेवाले आत्माका स्वरूप कैसे माना जाय? यदि अतिरिक्त आत्मा रूप माना जाय तो फिर शब्दका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि दूसरेके ज्ञान, इच्छा आदि गुणोंका कोई प्रत्यक्ष नहीं कर पाता।

आकाश व्यापक-काल रूप इसलिए नहीं माना जा सकता

कि काल सभी चर अचर वस्तुओंका आश्रय होता है क्योंकि आज "घड़ा हुआ" "उस दिन कपड़ा था", "परसों राम आयेगा" इत्यादि सभी विषयोंमें काल वस्तुओंके आश्रयरूपसे प्रतीत होता है। किन्तु आकाशके सम्बन्धमें ऐसी प्रतीति कभी नहीं हुआ करती। फिर काल और आकाश ये दोनों एक ही कैसे माने जायँ ?

आकाश व्यापक दिक् स्वरूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंका व्याहार नहीं होता वहाँ भी आकाशका व्याहार होता है। जैसे जहाँ मनुष्य बैठा हो वहाँके लिए यह कहता है कि "यहाँका आकाश निर्म्मल है" किन्तु "यहाँकी दिशा निर्म्मल है" ऐसा कोई नहीं कहता। इसी तरह "पूर्व दिशामें आकश मेघाच्छन्न हो आया है" ऐसा प्रयोग लोग करते हैं। यदि आकाश दिशा ही होता तो फिर किसी दिशासे वह सीमित न किया जा सकता। क्योंकि अपने आपको कोई सीमित नहीं कर सकता। किन्तु उक्तवाक्यमें "पूर्व दिशामें आकाश" इस वाक्यांशसे व्यापक आकाश पूर्व दिशासे सीमित किया गया है। अतः आकाश दिक् स्वरूप भी नहीं माना जा सकता। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन ये सभी परिच्छिन्न अर्थात् अव्यापक हैं अतः आकाश पृथिवी आदि रूप कैसे हो सकता है ? सुतरां मानना ही पड़ेगा कि आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है जिससे शब्द नामक गुण उत्पन्न होता है।

कुछ लोग आकाशके सम्बन्धमें यह मत व्यक्त करते हैं कि शून्यताही है आकाश और शून्यता है अभाव अतः आकाश अभाव नामक पदार्थमें अन्तर्भुक्त हो जाता है, उसे द्रव्य मानना अनुचित है। किन्तु विचार करनेपर यह मतवाद भी टिकने

नहीं पाता, क्योंकि शून्यता कही जाय या अभाव कहा जाय वह होता है किसी का, जैसे "घटशून्यता" घटका अभाव इत्यादि। फिर आकाश रूप अभाव किसका अभाव होगा? यदि सारे भाव पदार्थोंके अभावको आकाश कहा जाय तो सङ्गत नहीं क्योंकि अन्ततः पृथिवी, जल आदिके परमाणु सर्वत्र व्याप्त हैं, फिर वह सबका अभाव कैसे होगा? यदि यह कहा जाय कि दृढ़ आवरक पृथिवी द्रव्यका अभाव आकाश है तो यह भी इसलिए सङ्गत नहीं कि आकाश अन्य द्रव्योंके आश्रयरूपसे ज्ञात एवं व्याहृत होता है। जैसे "आकाशमें सूर्य्य देदीप्यमान है, "आकाशमें चिड़िया उड़ रही है" इत्यादि। किन्तु "अभावमें सूर्य्य देदीप्यमान है", "अभावमें चिड़िया उड़ रही है" ऐसा तो नहीं कहा जाता। अतः दृढ़ प्रतीघाती द्रव्यका अभाव आकाश नहीं, किन्तु तादृश अभावका आश्रय है आकाश, यह मानना ही पड़ेगा। कुछ लोगोंका कहना है कि शब्द गुण-पदार्थ नहीं किन्तु द्रव्य है, अतः आकाश शब्द-गुणका आश्रय नहीं कहा जा सकता। किन्तु शब्द तो द्रव्य नहीं, गुण है यह "गुण ग्रन्थ" में बतलाया जायगा। अतः आकाश शब्द-गुणका आश्रय ही है। कुछ लोग कहते हैं कि शब्द-गुण तो है किन्तु आकाशका नहीं, वायुका। किन्तु यह मतवाद भी इसलिए सङ्गत नहीं कि वायु में स्पर्शरूप विशेष गुण भी तबतक रहता है जबतक वायु रहता है। ऐसा नहीं कि वायु हो और स्पर्श नष्ट हो जाय। यदि शब्द वायुका गुण होता तो वह भी वायुके अस्तित्व कालतक रहता, किन्तु ऐसा नहीं होता। वह अपनी उत्पत्तिके तृतीय क्षणमें नष्ट हो जाता है। अतः वह वायुका गुण नहीं। सुतरां उसका आश्रय आकाश द्रव्य ही है। पार्थिव आदि शरीरोंके समान आकाशीय कोई शरीर नहीं। किन्तु कर्णपिण्ड-छिद्रसे

सीमित होकर वह श्रोत्र (कान) इन्द्रिय बनकर शब्दों-का ही ज्ञान कराता है। कानके आकाश होने पर भी किसी मनुष्यसे सुने गये शब्द सभी मनुष्य समान भावसे इसलिए नहीं सुनते कि उक्त सीमित आकाश ही कान है और वह शरीर-भेदसे भिन्न हुआ करता है, सबके श्रोत्र एकही नहीं। कानसे शब्द का प्रत्यक्ष यों होता है कि शब्द-उत्पत्ति-स्थलसे जलतरङ्ग-धारावत् शब्द-तरङ्ग धारा चलती है। श्रोताके कानमें जो शब्द उत्पन्न होता है वही वह सुनता है। सारांश यह कि कान शब्दके पास नहीं जाता। प्रथम शब्दसे उसका सजातीय दूसरा और उससे तीसरा इस प्रकारसे उत्पन्न होता हुआ श्रोताके कानोंमें शब्द उत्पन्न होता है वही वह सुनता है।

काल

जिस द्रव्यके सहारे—"यह कार्य हो गया", "यह कार्य हो रहा है", "यह कार्य होनेवाला है" इस प्रकार किसी भी वस्तुमें अतीतता, वर्तमानता या भाविताका ज्ञान एवं व्यवहार होता है, उसे ही काल कहा जाता है। सारकथा यह कि यदि काल नामक द्रव्य न हो, तो फिर किससे सम्बद्ध होनेके कारण किसी वस्तुको भूत, भविष्य या वर्त्तमान कहा जासकेगा? अतः काल नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही चाहिए। अथवा इस प्रकार समझा जाय कि यदि कोई यह कहे कि "अभी यह पुस्तक है" तो "अभी" का अर्थ क्या होगा? यही होगा कि सूर्यके इस चलनसे युक्त। पूरे वाक्य का अर्थ यह होगा कि "यह पुस्तक सूर्यमें होनेवाले इस चलनसे अर्थात् गमनात्मक क्रिया से युक्त है"। अब यह देखना होगा कि चलन तो सूर्यमें है, फिर उससे अति-दूरवर्त्ती इस पुस्तकका क्या सम्बन्ध है? चलनका साक्षात्

सम्बन्ध तो उस सूर्यमें ही है। अतः काल नामक एक व्यापक द्रव्य माना जाय, जो उस चलनके आश्रयभूत सूर्यसे भी सम्बद्ध हो और इस पुस्तकसे भी। इस प्रकार काल द्रव्य मानने पर उसे बीचमें रखकर सूर्यगत चलनसे पुस्तक सम्बद्ध हो सकेगी। अर्थात् चलन का आश्रय होगा सूर्य, उसका संयोग होगा व्यापक काल द्रव्यमें और उस कालका संयोग होगा पुस्तकमें इस प्रकार—"स्वाश्रयसूर्यसंयोगिसंयोग" नामक सम्बन्धसे सूर्यगत चलन पुस्तकगत भी होजायगा। अतः "अभी यह पुस्तक है" इसी प्रकार ज्ञान या व्यवहार होनेमें कोई बाधा नहीं होगी। उक्त सम्बन्ध तब तक नहीं बन सकता, जब तक व्यापक काल नामक द्रव्य न मानलियाजाय। अतः उसे मानना चाहिए। काल द्रव्य इसलिए है कि उक्त द्रव्योंके समान संख्या, परिमाण आदि गुण उसमें विद्यमान होते हैं। यदि यह कहा जाय कि काल न मानकर उक्त "स्वाश्रयसंयोगिसंयोग" सम्बन्ध बनानेके लिए आकाशको ही ले लिया जाय—अर्थात् आकाश भी तो चलनके आश्रय सूर्य और यह पुस्तक इन दोनों में संयुक्त है, अतः स्वाश्रयसूर्यसंयोगि-रूप से आकाशको लेकर तत्संयोग पुस्तकमें होनेके कारण इस पुस्तकके साथ उक्त सम्बन्ध सूर्यगत चलनका हो सकता है, फिर काल-द्रव्य क्यों माना जाय? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि पूर्वसिद्ध आकाश, आत्मा आदि व्यापक द्रव्योंके अन्दर यदि किसीका यह स्वभाव माना जाय कि वह दूरवर्ती किसी पदार्थगत गुण-क्रियाका अन्यत्र दूरवर्ती पदार्थमें आधान करता है, तो दूरवर्ती जवापुष्पगत अरुणिमाको आकाश आदि दूरवर्ती स्फटिकमें भी वह प्रतिफलित कर देगा। अर्थात् जवापुष्प निकटमें न होने पर भी स्फटिक लाल मालूम होगा। आकाश

यदि दूरवर्त्ती-सूर्यगत चलनको पुस्तक आदि दूरवर्त्तीमें लायेगा तो दूरवर्ती जवागत अरुणिमा को उससे दूरवर्त्ती स्फटिकमें क्यों नहीं लायेगा ? काल द्रव्यके स्वीकार पक्षमें यह बात नहीं होती, क्योंकि काल खासकर सूर्यगत चलनको ही तत्तद्वस्तुओंमें लानेके लिए माना जाता है, अतः वह चलन को ही अन्यत्र ले जा सकेगा, अरुणिमा आदिको नहीं। आकाश आदि पूर्वसिद्ध व्यापक द्रव्योंके लिए यह बात नहीं कही जा सकती कि वह केवल चलन को ही लेजायगा, अरुणिमाको नहीं, क्योंकि वह शब्दके आश्रयरूपसे पूर्वसिद्ध होनेके कारण चलन और अरुणिमा दोनोंके लिए समान होगा, अतः काल न माननेपर उक्त दोष अनिवार्य होगा। सुतरां "अभी यह पुस्तक है" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्यप्रयोगके सम्पादनार्थ काल नामक द्रव्य मानना चाहिए। अन्य द्रव्योंसे इसकी यह विशेषता है कि कोई भी वस्तु इसके विना उत्पन्न नहीं होती।

कालके प्रभेद

जैसे आकाश एक होनेपर भी गृह आदिको परिच्छेदक करके "गृहाकाश", "घटाकाश" आदि शब्दोंका प्रयोग होता है एवं साधारण लोग सीमित रूपमें उसे अनेक समझते भी हैं, उसी प्रकार कालद्रव्य तत्त्वतः एक होनेपर भी क्षण, पल, दंड, दिन, रात्रि, अहोरात्र, कृष्ण, शुक्ल-पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष रूप में सीमित अतएव अनेक होता है। क्षण उसको कहा जाता है, जितने कालका किसी स्पन्दन की उत्पत्तिसे सम्बन्ध हो। क्रिया की उत्पत्तिसे लेकर विनाश तक की साधारणतः प्रक्रिया यह है कि प्रथम क्षणमें अर्थात् किसी एक क्षण में क्रिया की उत्पत्ति होतीहै। द्वितीय क्षणमें उस क्रियाश्रय-द्रव्यका अन्य द्रव्यसे

विभाग होताहै जिसमें प्रथम क्षणमें क्रिया उत्पन्न हुई होती है। तृतीयक्षण में उस पूर्वसंयोग का नाश होताहै, जो क्रियाके आश्रय द्रव्यमें पहले से विद्यमान रहताहै। चौथे क्षणमें उस द्रव्यका अपर किसी द्रव्यके साथ नया संयोग उत्पन्न होताहै। पञ्चम क्षणमें उस क्रिया का नाश होजाताहै जो इस क्रियानाश के पूर्व-पञ्चम-क्षण में उत्पन्न हुई होती है। जैसे एक परमाणु कहीं पड़ा था, वायुके झकोरेसे उसमें प्रथम क्षणमें कम्पन हुआ। द्वितीय क्षणमें उस स्पन्दनशील परमाणुमें उससे विभाग हुआ, जहाँ वह जुटा हुआ पड़ा था। तृतीय क्षणमें उस संयोगका नाश हो गया, जो उसमें अपने पूर्व-आश्रयके साथ था। चतुर्थ क्षणमें वह परमाणु किसी और द्रव्यके साथ जा जुटा अर्थात् उत्तरसंयोग उत्पन्न हुआ। पञ्चम क्षणमें, वह स्पन्दन नष्ट हो गया, जो पूर्व पंचम क्षणमें, उत्पन्न हुआ था। इस प्रक्रिया के आधारपर अनायास यह कहा जा सकता है कि उक्त क्रिया की उत्पत्तिका काल एक क्षण है। उक्त विभागोत्पत्तिका काल भी एक क्षण है। पूर्वसंयोगनाशकी उत्पत्तिका काल भी एक क्षण है। उत्तरसंयोगकी उत्पत्तिका काल भी एक क्षण है और क्रियानाशोत्पत्तिका काल भी एक क्षण है। इस तरह क्षणात्मक काल का सम्पादन हो जानेपर उसके समुदायको लेकर पल, दण्ड आदिका भी सम्पादन हो जायगा। दिन रात्रि आदि स्थूलकालोंके परिचयमें तो इसलिए सरलता होगी कि सूर्योदय-से लेकर सूर्य्यास्त तक के परिच्छिन्न काल को दिन कहा जायगा। इसी प्रकार सूर्य्यास्तसे लेकर सूर्य्योदय तकके परिच्छिन्न कालको रात्रि कहा जाताहै। दोनोंके मिलानेपर अहोरात्र होता है। इस प्रकार पक्ष, मास आदि का भी सम्पादन होनेके कारण तत्त्वतः एक महाकाल भी अनेक अणुकालोंके रूपमें कल्पित रूप-

से विभक्त होकर उक्त ज्ञान एवं वाक्यप्रयोगोंका सम्पादन कर सकेगा। कुछ लोग काल नामक द्रव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि महाकालको विषय करनेवाला कोई ज्ञान होता नहीं, एवं स्वतन्त्र वाक्यप्रयोग भी होता ही नहीं, क्योंकि "अभी" "जभी" "तभी" इत्यादि ज्ञानका विषय स्वल्पकाल ही होता है। खण्डकालकी रचना किसी क्रिया या जन्यद्रव्यको लेकर होती है यह बात पहले बतलायी जाचुकी है। फिर परिच्छेदक क्रिया किंवा जन्यद्रव्य को ही क्यों न काल माना जाय? परन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं कि यदि कोई यह कहताहै कि "यह इसी क्षण में हो रहाहै", तो इसका अर्थ कोई भी यह नहीं समझता, कि यह क्रियामें उत्पन्न होरहाहै। किसी पदार्थका स्वतन्त्र अस्तित्व, स्वतन्त्र ज्ञान और लोकव्यवहार के आधार पर ही माना जाता है। इससे यह मतवाद भी समीक्षित समझना चाहिए कि "अन्तःकरण वृत्तियों के पूर्वापरीभावके आधारपर बाह्य घटनाओं में पूर्वापरीभाव की कल्पना ही है काल की कल्पना, अतः काल विकल्पित है"। क्योंकि बाह्य घटनाएँ यदि विकल्पित नहीं तो उनका पूर्वापरीभाव ही क्यों विकल्पित हो चला? और अन्तःकरण-वृत्तियोंका पूर्वापरीभाव भी तो काल माने विना नहीं कहा जा सकता? उधर आन्तरघटनाएँ चलती हैं और इधर बाह्य-घटनाएँ होतीहैं इसलिए काल का भान मात्र होता है यह कथन भी तब तक कठिन है जब तक काल न माना जाय? क्योंकि उक्त "इधर" और "उधर" से घटना-द्वयको समसामयिकता प्रतीत होती है वह समयरूप कालके अधीन ही होता है। कुछ आधुनिक विवेचक लोग कहते हैं कि मूर्त्तद्रव्यों की दीर्घता ह्रस्वता आदिके समान काल भी मूर्त्त-द्रव्यका स्वरूप ही है अतएव "यह इतना लम्बा है" "यह इतना चौड़ा है" इत्यादि-

प्रतीतिके समान यह भी प्रतीति होती कि "यह इतने दिन (काल) का है" किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि दीर्घता आदि द्रव्य नहीं उसके गुण हैं यह गुणग्रंथमें बतलाया जायगा। और दूसरी बात यह भी कि जो सभीके आधार रूपसे प्रतीत होता उसे आधेय-द्रव्य-स्वरूप कैसे माना जासकता? काल में एक विचित्र नियमनशक्ति है, जिसके सहारे कार्य ठीक व्यवस्थित रूप से हुआकरते हैं। सभी फूल, फल आदि एकदा नहीं हुआकरते। ज्येष्ठ, कनिष्ठ आदि व्यवहार भी लोकमें इस कालके सहारे ही हुआकरते हैं। यह बात सही है कि क्रिया एवं जन्य द्रव्य आदिके सहारे परिच्छिन्न बनकर ही काल लोक-व्यवहार का विषय होता है, किन्तु उन क्रिया आदि को ही काल मान लेना सङ्गत नहीं, क्योंकि परिच्छेदक और परिच्छेद्य एक नहीं होते।

दिक् द्रव्य

जिस द्रव्यके सहारे किसी भी परिच्छिन्न द्रव्यके लिए, पूर्व पश्चिम आदि दिशावाचक शब्दों का व्यवहार होता है, अर्थात् ऐसा कहाजाता है कि अमुक पूर्वदिशामें है और अमुक पश्चिममें उस द्रव्यका नाम है दिक्। यतः किसी में पूर्व, पश्चिम आदि शब्द-प्रयोग के मूलभूत पूर्वत्व, पश्चिमत्व आदि, पृथिवी आदि किसी वस्तुके साथ सम्बन्ध-प्रयुक्त है ऐसा देखा नहीं जाता। अतः दिक् नामक कोई द्रव्य स्वतन्त्र अवश्य है जिसके सम्बन्धसे किसी भी परिच्छिन्न वस्तुको पूर्व, पश्चिम आदि दिशावाचक विशेषण प्राप्त होता है। यह दिक् द्रव्य भी तत्त्वतः काल-द्रव्यके समान ही एक, व्यापक एवं नित्य है। तथापि कालके ही समान यह भी अनेक होता है, इसलिए पूर्व, पश्चिम आदि विभिन्न रूपसे इसका ज्ञान होता है।

यह दिक्-द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन रूप इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वे सभी अव्यापक हैं और यह व्यापक है। इसे आकाश इसलिए नहीं कह सकते कि इसमें शब्द नहीं होता। काल इसे इसलिए नहीं कह सकते कि ज्येष्ठता और कनिष्ठता नियत होती है। अर्थात् जो जिससे ज्येष्ठ है वह सदा उससे ज्येष्ठही रहेगा। किन्तु दिक् में यह बात नहीं। जो जिससे पूर्व-दिशामें है वही उससे पश्चिममें भी हो सकता है। जैसे देवदत्त यदि पटनेमें है और यज्ञदत्त काशीमें, तो देवदत्त यज्ञदत्तसे पूर्व (देश) में कहा जायगा और यज्ञदत्त पश्चिममें, किन्तु वही देवदत्त यदि प्रयाग चला जाय तो काशीस्थ यज्ञदत्तसे अब पश्चिमस्थ कहलायेगा। अतः दिक् काल भी नहीं। यह दिक् आत्मा इसलिए नहीं कि इसमें चेतनके धर्म ज्ञान, इच्छा, यत्न आदि नहीं। अतः इसे स्वतन्त्र ही द्रव्य मानना पड़ेगा। दिक्में एक विशेषता यह भी है कि दूरता और समीपताका ज्ञान इस दिक् नामक द्रव्यके ही सहारे होता है। "प्रयागसे काशी निकट है और कलकत्ता दूर" इसका अर्थ यही होगा कि प्रयाग और काशीके बीच पृथिवी, जल, तेज आदि परिच्छिन्न द्रव्य व्यवधान रूपसे जितने हैं, उससे अधिक प्रयाग और कलकत्तेके बीच हैं। किन्तु उक्त व्यवधायक पार्थिव जलीय आदि परिच्छिन्न वस्तुएँ व्यापक नहीं कि किसी व्यापक द्रव्यको आश्रय किये विना स्वगत अल्पता या अधिकताकी सहायतासे ही काशीको प्रयागसे निकट और कलकत्तेको दूर समझा सकें, अतः व्यापक द्रव्य की अपेक्षा होती है। वह द्रव्य काल आदि हो नहीं सकता। अतः दिक् नामक नित्य, व्यापक, एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही पड़ेगा।

दिक् द्रव्यके प्रभेद

कालके समान तत्वतः दिक् भी एक व्यापक और नित्य द्रव्य है। और उसीके समान इसका भी औपाधिक प्रभेद माना जाता है। मुख्यतया इसके छः प्रभेद हैं जैसे—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः। पूर्व पश्चिम आदि चार दिशाओंकी चार उपादिशाएँ हैं, जैसे—दक्षिण-पूर्व, पूर्वोत्तर, उत्तर-पश्चिम और पश्चिम-दक्षिण। इस तरह सबको मिलाकर दिक् द्रव्यकी औपाधिक संख्या दश है। उक्त चार उपदिशाओंको कोण शब्दसे भी कहा जाता है, यथा आग्नेय कोण, ईशान कोण, वायव्य कोण, और नैर्ऋत्य कोण। पूर्व आदि चारोंको ही प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची इन नामोंसे एवं ऐन्द्री, वारुणी, कौवेरी एवं याम्या इन नामोंसे भी कहा जाता है। सूर्य्योदय कालमें सूर्य्यकी ओर मुँह कर खड़ा होनेवाले मनुष्यके सामने होने वाली दिशा होती है पूर्व (पूरब) और पीठकी ओर होनेवाली दिशा होती है पश्चिम, दाहिने हाथ की ओर होने वाली दिशा होती है दक्षिण और बांये हाथकी ओर होनेवाली होती है उत्तर। लोगोंके व्यवहारमें ये औपाधिक दिशाएँ ही आती है। परन्तु विशेष याने प्रभेद किसी सामान्यके ही हुआ करते हैं अतः सामान्यतः एक व्यापक नित्य दिशा मानकर इन सबको उसका प्रभेद मानना चाहिए।

आत्मा द्रव्य

जो चेतन है, याने जिसमें चेतना है, अर्थात् जिसमें किसी कालमें भी ज्ञान होता है वही है आत्मा। वह नित्य है। क्योंकि ऐसा न मानने पर कर्म्म और फलभोगका नियम नहीं बन सकेगा। अर्थात् यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो मनुष्य कोई कार्य्य करता है वह उससे नफा या नुकसान उठाता है, अतः यह मानना

अनिवार्य्य होता है कि कर्त्ता और भोक्ता एक ही होता है। अर्थात् जो भला या बुरा कर्म्म करता है उस भले या बुरे कर्म्मके फल सुख या दुःखको भी वही भोगता है। जैसे जो चोरी करता है उससे प्राप्त कारावास दण्ड भी उसे ही भोगना पड़ता है। जो भृत्य अपने कर्त्तव्यका पालन उचित भावसे करता है पद वृद्धि भी वही पाता है, अतः कोई स्थायी आत्मा है। चेतन आत्माका स्वीकार इसलिए भी आवश्यक है कि जड़पदार्थ जबतक चेतन पदार्थसे प्रेरित नहीं होता तबतक वह कार्य्यक्षम नहीं होता है। जैसे कितनीही तीक्ष्ण तलवार क्यों न हो जबतक उसको कोई चलायेगा नहीं, तबतक वह अपेक्षित रूपसे काट नहीं सकती। घड़ीके काँटे बहुत देरतक चलते रहते हैं, किन्तु कभी उसमें भी कोई चाभी भरता है, यों ही बराबर नहीं चल सकते। आजकलके बड़े बड़े वैज्ञानिक यन्त्रोंमें यह विशेषता अवश्य पायी जाती है कि कार्य्य करनेके लिए उसे अधिक चेतनका प्रयोजन नहीं होता फिर भी बिलकुल चेतनका प्रयोजन नहीं होता ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता। और बात तो दूर रहे, पहले वह यन्त्र स्वयं ही नहीं बन सकताथा यदि कोई चेतन उसका बनाने वाला न होता। अतः जो "हम" "मैं" आदि शब्दोंसे कहाजाता है, जिसके बारे में कोई भी प्राणी "मैं हूँ या नहीं" इस प्रकार सन्देह नहीं कभी करता, एवं "मैं नहीं हूँ" इस प्रकार विपरीत—निश्चय भी कभी नहीं करता, ऐसी एक कोई वस्तु माननी ही पड़ेगी, वही है आत्मा।

कुछ लोग आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते। उनका कहना यह है कि प्रत्येक भौतिक-कण चेतन हैं अतः भौतिक-कणोंकी समष्टि स्वरूप यह शरीर ही आत्मा है, इससे अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। घड़े कपड़े ईंट पत्थर आदि भी यद्यपि

भौतिक कणसे ही निष्पन्न हैं अतः वे भी चेतन हैं, किन्तु उनकी चेतनाएँ अस्फुट हैं अतः उन्हें आत्मा नहीं कहाजाता, एवं वे अपने हित-प्राप्ति और अहित-परिहारके लिए सचेष्ट नहीं देखे जाते। किन्तु प्राणि-शरीर रूप आत्मामें चैतन्यका विकास होनेके कारण वह "स्फुटचैतन्य" होता है, अतः हितकी प्राप्ति एवं अहितके परिहारके लिए वहाँ चेष्टा होती है। जैसे अन्नके प्रत्येक कणमें अस्फुट मादकता है, किन्तु तबतक वह "मद्य" नहीं कहलाता जबतक जल गुड़ आदि देकर उसे सड़ाया नहीं जाता। सड़नेके बाद विलक्षण पाक-प्रक्रियासे उसमें मादकता स्फुट हो आती, और वही "मद्य" बन जाता। उसी तरह पृथिवी जल तेज वायु इन चार भूतोंके अस्फुट चेतनावान् कण-समुदायसे शरीर की निष्पत्ति होने-पर वह चेतना उसमें स्फुट हो आती, और वह सचेष्ट हो जाती, अतः शरीरसे अतिरिक्त आत्मा नहीं माननी चाहिए इत्यादि। किन्तु यह मतवाद इसलिए सङ्गत नहीं मालूम पड़ता कि प्रत्येक परमाणु चेतन होने पर उससे निर्मित शरीरको चेतनकी समष्टि मानना होगा। अनेक चेतनोंका किसी भी विषयमें मतैक्य होना असम्भव हो जायगा, फलतः कुछ भी निर्णय होना कठिन हो जायगा, फिर तो किसी कार्य्यमें निष्कम्प प्रवृत्ति न होगी। सभी निश्चेष्ट हो जायेंगे। किसी भी विषयमें निर्णयार्थ पाँच सात चेतन एकत्र होने पर भी मतभेद होजाताहै यह प्रत्यक्षसिद्ध है, फिर करोड़ों चेतनोंमें मतैक्य होना तो असम्भव ही मालूम होताहै। किसीको विशेषाधिकार दियाजाय और उसके अधीन निर्णय माना जाय, जैसे सदस्योंमें मतभेद प्राप्त होनेपर अध्यक्षके मतानुसार समितियोंमें निर्णय हुआ करता है, तो फिर उस अध्यक्ष-स्थानीय निर्णेताको ही एक आत्मा मानना चाहिए, एक शरीरमें करोड़ों चेतन माननेका प्रयोजन क्या? यदि यह कहाजाय कि एक

शरीरमें रहनेवाले करोड़ों चेतन मतगणनाके आधार पर कर्त्तव्यका निर्णय करेंगे, जैसा कि मताधिक्यसे निर्णय हुआ करता है, तो जो भौतिक चेतनकण हारेंगे उन्हें आत्मा कहालानेका और "चेतन" कहालानेका भी कोई अधिकार नहीं रहेगा। क्योंकि आत्मशब्द और चेतन शब्द ये दोनों ही पर्य्यायवाची हैं। साथ ही आत्मा और अनात्माकी व्यवस्था भी न रहेगी, क्योंकि जो सदस्य एक निर्णय स्थलमें हारताहै वही कभी अन्य निर्णय स्थलमें विजयी भी होता है। फिर तो एक निर्णय-स्थलमें जो आत्मा होगा वह अन्य निर्णय स्थलमें अनात्मा हो जायगा। और वही फिर किसी अन्य निर्णय स्थलमें आत्मा हो जायगा। फिर सभी भौतिक-कण स्वतः चेतन आत्मरूप हैं, यह मतवाद कहाँ स्थिर रहने पाता ?

दूसरी बात यह कि एक भौतिक शरीरको या शरीरमें रहनेवाले अनेक भौतिक कणोंको आत्मा मानने पर बाल्य कालमें देखी हुई वस्तुका वृद्धावस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। वृद्धावस्थामें न तो वह शरीर रह जायगा, और न वे भौतिक कण ही रह जायेंगे। क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक भी यह बात मानते हैं कि प्रत्येक ६ वर्षके अन्दर शरीरके सारे परमाणु बदल जाते हैं। अतएव वह शरीर भी न रह सकेगा। जो पहले देखता है वही पीछे स्मरण करता है। ऐसा कभी नहीं होता कि देखा किसीने, और स्मरण किया किसीने।

तीसरी बात यह है कि शरीरको आत्मा मानने पर, जीवन और मरण नहीं बनता। क्योंकि शरीर और शारीरिक भूत-कण तो मरनेके अनन्तर भी अनेक काल तक उसी प्रकार रहतेहैं।

चतुर्थ ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इस मतवादमें जन्मान्तर तो होगा नहीं, क्योंकि प्राणवियोगके बाद उस शरीरको जला-

देने पर वह आत्मा ही मरगया, और उस शरीरके बाद अन्य शरीररूप आत्मासे उसका कोई भी सम्बन्ध न होगा। और ऐसा होने पर सद्योजात शिशु तकको जो दूध आदि पीने खाने आदि में प्रथम-प्रवृत्ति होती है वह न हो सकेगी। क्योंकि किसी कार्य्यमें प्रवृत्ति, विना इच्छाकी नहीं होती, और इच्छा कभी इष्टसाधनता-ज्ञान के विना नहीं होती। "इस कार्य्यसे मेरा उपकार होगा" इसी ज्ञानका नाम है इष्टसाधनता-ज्ञान। जब प्राणी यह समझता है कि इससे मुझे सुख मिलेगा तो उसकेलिए ऐसी इच्छा होती है कि "यह वस्तु मुझे मिले" फिर उसके मिलनेके लिए उद्यम करता है, यही है कार्य्यमें प्रवृत्तिकी प्रक्रिया। अतः मानना ही पड़ेगा कि उस सद्योजात शिशुको भी पहले यह ज्ञान होता है कि "दूध पीनेसे मेरा उपकार होगा" फिर यह उसे इच्छा होगी कि "दूध मुझे मिले" फिर वह माँके स्तनकी ओर अपना मुंह बढ़ायगा। अब यह सोचना चाहिए कि यदि पूर्व जन्म न माना जाय तो वह अकस्मात् कैसे समझ सकेगा कि "दूध पीनेसे मेरा उपकार होगा" क्योंकि ऐसा ज्ञान तो वही कर सकता है जो दूध पी चुका है और उससे लाभ उठा चुका है। अतः मानना ही होगा कि शरीर आत्मा नहीं है, किन्तु उससे अतिरिक्त कोई स्थायी आत्मा-पदार्थ है जिसको अनेक शरीरसे क्रमशः सम्बन्ध हुआ करता है। अतः पूर्व शरीर कालमें अनुभूत दुग्धपान और उससे हुए लाभको पुनर्जन्म होने पर स्मरण करता है कि "दूध पीनेसे मेरा उपकार होगा" फिर इच्छा होकर प्रवृत्ति उसे होती। इसी प्रकार पूर्वजन्मीय शैशव-दुग्धपानमें प्रवृत्तिसे उस आत्माकी पूर्व जन्मकी भी सिद्धि होती। इस तरहसे वह आत्मा अनादि सिद्ध होती है। आकाश काल परमाणु आदि अनादिभाव नित्य होते हैं, अतः तद्वत् यह आत्मा भी नित्य होगी। व्यापक इसे इसलिए मानना

पड़ताहै कि यदि परमाणुके समान अति सूक्ष्म माना जायगा तो उसमें होने वाले ज्ञान इच्छा आदिका मानस प्रत्यक्ष उसी तरह न हो सकेगा, जैसे परमाणु के रूप रस आदिका प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु "मैं जानता हूँ" "मुझे इच्छा हुई है" "मैं प्रयत्नशील हूँ" "मैं सुखी हूँ" "मैंदुखीहूँ" इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष लोगोंको होता है। यदि उसे मध्यम-परिमाणवाला मानाजाय अर्थात् वह अत्यन्त छोटा भी नहींहै और अत्यन्त बड़ा भी नहीं, तो वह अनित्य अर्थात् नश्वर हो जायगा। क्योंकि कोई भी मध्यम परिमाणवाला नित्य नहीं होता। सारे घट पट आदि मध्यमपरिमाणवाले अनित्य ही पाये जाते हैं। और वह अनित्य नहीं नित्य है, यह बात अभी बतलायी जाचुकी है। अतः उसे व्यापक ही मानना होगा।

कुछ लोगोंका कहनाहै कि शरीरको आत्मा न मानना तो ठीक है, किन्तु उसे अतिरिक्त द्रव्य माननेका प्रयोजन नहीं पायाजाता। क्योंकि इन्द्रियको आत्मा मान लेनेसे वह आक्षेप दूर हो जाता कि बाल्यावस्थामें देखे हुए पदार्थका स्मरण वृद्धावस्थामें नहीं हो सकेगा"। क्योंकि शरीर बदलने पर भी वे इन्द्रियाँतो रहती हैं। अतः अनुभवभी इन्द्रियको ही हुआ था और स्मरण भी उसीको हुआ। परन्तु यह मतवादभी इसलिए सङ्गत नहीं हो पाता कि जो जन्मान्ध नहीं है, अर्थात् पहले दृश्योंको देखा था किन्तु पश्चात् अन्धा होगयाहै, वह अन्धा होनेपर भी पहले देखी हुई वस्तुका स्मरण करता है, किन्तु इन्द्रियात्मवादमें यह उपपन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि देखनेवाला (चक्षु) तो नष्ट होगया फिर दूसरा स्मरण कैसे कर सकेगा? यह पहले भी कहा जाचुकाहै कि द्रष्टा और स्मर्त्ता दोनोंको एक होना अनिवार्य्य है। वस्तुतः इस मतवाद में पूर्वोक्त भी दोष आपन्न होतेहैं। यथा—एक इन्द्रियको आत्मा माना जायगा या सब इन्द्रियको। एकको माना जायगातो किसको,

यह नियम होना कठिन होगा। क्योंकि किसीके पक्षमें कोई निश्चायक नहीं। सबको मानने पर मतैक्य होना कठिन हो जायगा, साथही सभी इन्द्रियाँ सभी विषयोंका ज्ञान करानेमें समर्थ होने लगेगीं। अर्थात् रूपका ज्ञान जिह्वासे भी होने लगेगा। बाल्यावस्थामें देखे हुए पदार्थका स्मरण वृद्धावस्थामें नहीं हो सकेगा। क्योंकि कानको छोड़कर अन्य सारी इन्द्रियाँ सावयव हैं, अतः उनके परमाणु भी अवस्थाभेदसे अवश्य बदलेंगे। और बदलनेसे बाल्यकालकी इन्द्रियाँ वृद्धावस्थामें रह नहीं सकेंगी, सुतरां द्रष्टा और स्मर्त्ता एक नहीं होसकेगा, जोकि स्मरणके लिए अति आवश्यक है। कहनेका सारांश यह है कि अन्धे होजानेवालेकी बात क्या, किसीको भी अवस्थाभेद होनेपर स्मरण न हो सकेगा। अतः इन्द्रियात्मवाद स्वीकारयोग्य नहीं।

अन्य कुछलोगोंका कहना यह है कि आँख कान आदि सावयव अतएव नश्वर बाह्य इन्द्रियोंको आत्मा मानना ठीकही असङ्गत है, किन्तु आभ्यन्तर इन्द्रियको अर्थात् मनको आत्मा मान लेना चाहिए, क्योंकि वह परमाणुके समान अति सूक्ष्म होनेके कारण नित्य है। वह मनरूप आत्मा बाल्य बार्द्धक्य आदि अवस्थाओंके भेदसे भिन्न नहीं होगी। और एक शरीरमें मन एकही होनेके कारण "मतैक्य कैसे होगा" यह प्रश्न भी नहीं उठता। परन्तु यह मतवाद इसलिए सङ्गत नहीं कहा जा सकता कि ऐसा माननेपर ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदिका जो मानस-प्रत्यक्ष होताहै, वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि आगे कहीजानेवाली युक्तिके सहारे मनको परमाणुपरिमाण अर्थात् अति सूक्ष्म माननाही पड़ेगा, फिर तदाश्रित ज्ञान सुख आदिका प्रत्यक्ष उसी प्रकार नहीं हो

सकेगा, जिसप्रकार पार्थिव, जलीय आदि परमाणुमें होनेवाले रूप आदि गुणोंका प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ एक यह भी ध्यान रखने की बात है कि आँख आदि बाह्य इन्द्रियोंको या मन स्वरूप आभ्यन्तर इन्द्रियको आत्मा इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि "कर्तृकरणविरोध" होजायगा। कहनेका अभिप्राय यह है कि किसी भी क्रियाकी निष्पत्तिके लिए कर्ता और करण दोनोंका प्रयोजन होता है, और वे दोनों अर्थात् करण और कर्त्ता परस्परमें भिन्न हुआ करते हैं। जैसे किसीपेड़को यदि काटना है तो काटनेके लिए काटनेवाला भी चाहिए, और उससे अतिरिक्त कुल्हाड़ी भी। उसी प्रकार जब हम किसी वस्तुको देखने जाते हैं तो देखने वालेके अतिरिक्त देखनेका साधन चाहिए। अतः देखने वाली आत्मा और उससे भिन्न आँखभी माननी ही पड़ेगी। इसी तरह नाक आदिसे होने वाले प्रत्यक्ष स्थलमें भी। एवं सुख आदिके ज्ञाता आत्मासे अतिरिक्त करण रूपसे अर्थात् ज्ञान-साधन रूपसे मनको मानना होगा, अतः मनको आत्मा नहीं कहा जा सकता। और यदि मनको ज्ञाताका पद दिया जायगा तो उससे अतिरिक्त कोई ज्ञानका करण अर्थात् साधन मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रमाता, प्रमाणसे प्रमेयकी प्रमा करता है, यही वस्तुस्थिति है। अतः प्रमाण और प्रमाता एक नहीं हो सकते। मनरूप ज्ञातासे अतिरिक्त ज्ञान-साधनके स्वीकार करने पर तो नाम मात्रका ही विवाद रह जाता, पदार्थके सम्बन्धमें नहीं। नाम तो कोई अपने सद्योजात अज्ञ शिशुका "वाचस्पति" भी रखता है। इसी तरह ज्ञाताको आत्मा न कहकर अगर कोई "मन" शब्दसे पुकारे, और मनको किसी और कल्पित नामसे, तो उसके लिए कोई विवाद क्यों करेगा? क्योंकि तत्त्वतः कोई विरोध नहीं रहजाता।

कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञाता; ज्ञेय इन तीनोंका ज्ञान ही केवल साथ साथ नहीं होता, प्रत्युत ये एक ही हैं, अतः ज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए। विज्ञान आभ्यन्तर वस्तु है, वही जब बाह्य आकार धारण करता है तब बाहरी पुष्प फल वृक्ष आदि, बाह्य पदार्थ रूपसे भासित मात्र होते हैं। आत्मा पृथिवी आदिद्रव्योंसे एवं गुण पदार्थोंसे अतिरिक्त कोई विज्ञानातिरिक्त द्रव्य वस्तु है, ऐसी बात नहीं । किन्तु यह मतवाद इसलिए युक्ति-सङ्गत माना नहीं जासकता कि कोई भी मनुष्य अपनेको ज्ञान नहीं समझता, अपितु अपनेको ज्ञानवाला समझता है। इसीलिए कोई किसीसे यह नहीं कहता कि "मैं ज्ञान हूँ" किन्तु इस प्रकार कहता है कि "मुझे ज्ञान है" "मैं इस विषयका ज्ञाता हूँ" इत्यादि। और यह पहले भी कहा जाचुकाहै कि जिसे "मैं" "हम" इन शब्दोंसे पुकारा जाता है वह आत्माहै। ऐसी परिस्थितिमें ज्ञानको आत्मा कैसे कहा जा सकता है? दूसरी बात यह भी है कि इस मतवादमें उस आत्मभूत विज्ञानको क्षणिक अर्थात् क्षणमात्र-स्थायी, द्वितीय क्षणमें ही नष्ट हो जाने वाला माना जाताहै। तब तो पूर्वोक्त "शरीरात्मवाद" और "इन्द्रियात्मवाद" इन दोनों वादों में प्रदत्त "स्मरणानुपपत्ति" दोष इस मतवादमें भी दुरुद्धर हो जाता। क्योंकि किसी भी वस्तुको देखनेंवाला विज्ञान तो एकक्षण मात्र रहेगा, दूसरे क्षणमें नष्ट हो जायगा, और बीचके करोड़ों विज्ञानोंके नष्ट हो जानेके अनन्तर किसी भी विज्ञानको स्मरण होगी। परन्तु, यह असम्भवहै। अभिप्राय यह कि अनुभविता और स्मर्त्ता दोनोंको एक होना चाहिए, सो इसमतमें होता नहीं। अतः स्मरण कैसे हो सकेगा? तीसरी बात यहहै कि यदि विज्ञान

ही तत्त्व हो, और वही आत्माहो, और बाह्य विषयका उसमें आरोप अर्थात् मिथ्याज्ञान मानाजाय तो विषय कल्पनासे पहले उस आत्म-स्वरूप विज्ञानको विषयरहित मानना होगा, जो असङ्गत है। क्योंकि विना विषयका ज्ञान किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। सभी लोग इसी प्रकार वाक्य प्रयोग करते हैं कि "उन्हें इस विषयका ज्ञान है अन्य विषयका नहीं" अतः यह मतवाद कैसे सङ्गत कहा जा-सकता? और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि क्षणिक ज्ञानही आत्मा हो और उसीमें बाह्यताको कल्पना होनेके कारण फूल फल पेड़ पत्ते आदि दीखते हों तो वह आत्मस्वरूप विज्ञान क्षणिक नहीं माना जासकता, क्योंकि बाह्यताकी कल्पना निराधार नहीं हो सकती। वह विज्ञान आधार इसलिए नहीं हो सकता कि वह अपनी उत्पत्तिके परक्षणमें ही नष्ट मान लिया जाता। फिर कल्पना का आधार बननेका समय ही उसे प्राप्त कहाँ होताहै? अतः यह मतवाद स्वीकरणीय नहीं कहा जा सकता।

अन्य कुछ लोगोंका कहना है कि क्षणिक विज्ञानको आत्मा मानना ठीक ही सङ्गत नहीं मालूम होता, किन्तु नित्य विज्ञानको आत्मा मानना चाहिए। इस पक्षमें पूर्वोक्त स्मरणकी अनुपपत्ति स्वरूप दोष भी रहने नहीं पाता, क्योंकि आत्मा नित्य होगी। अतः नित्य विज्ञान ही आत्मा है और वही केवल तात्त्विक वस्तु है, अन्य वस्तुएँ उसी तात्त्विक नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मामें कल्पित, मिथ्या हैं। किन्तु यह मतवाद भी अव्यवहितपूर्वोक्त युक्तिओंसे ही खण्डित हो जाता। क्योंकि यहां भी वे ही बातें आयेंगी कि उस नित्य विज्ञानको निर्विषय माना नहीं जा सकता क्योंकि, ज्ञान कभी निर्विषय नहीं होता।

उसे सविषयक मानने पर लोगोंको ऐसा ज्ञान होना चाहिये था कि मैं "फूलका ज्ञान हूँ" किन्तु ऐसा न होकर भान इस प्रकार होता है कि "मुझे फूलका ज्ञान है" "मैं उसे जानता हूँ" इसलिए आत्मा ज्ञानाश्रय ही होगा ज्ञानस्वरूप नहीं। साथही जब कि सर्व प्रमाणोंमें श्रेष्ठ प्रत्यक्ष-प्रमाणसे यह सिद्ध हो रहा है कि शरीर घर फल फूल पेड़ पत्ते आदि वस्तुएँ विद्यमान हैं, फिर कैसे मान लिया जाय कि वे सबके सब कल्पित, मिथ्या हैं, मरुमरीचिकामें जलके समान उनका भानमात्र होरहाहै, तत्त्वतः हैं नहीं? मिथ्याज्ञान तो वह होता है जिसके अनन्तर "बाधज्ञान' होता है, जैसे मरुमरीचिकामें पहले जल-ज्ञान होनेपर भी तुरत पीछे वहां जानेपर निश्चय हो जाता है कि "यह जल नहीं है", मुझे भ्रम हुआ था। "ये सभी सांसारिक वस्तुएं मिथ्या हैं" "मुझे भूल हुई", ऐसा जब कि नहीं समझा जारहाहै तब किसके आधार पर इन अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अभाव मानाजाय? यदि यह कहाजाय उक्त प्रकार "बाध ज्ञान" मुझे नहीं होता है तो क्या, और किसीको होताहोगा, अतः नित्य विज्ञान रूप आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंको मिथ्या मानना चाहिए, तो इसका पर्य्यवसित अर्थ यही होगा कि किसी एक मनुष्यके निर्णयके आधारपर सभी लोग वस्तु-निर्णय करेंगे। फिर तो "आग जल है" इश किसी पगलेके निर्णयके आधारपर सभी लोग आगको जल मान लेंगे। अतः मानना होगा कि प्रामाणिक बहुत लोग जिसे जैसा समझते हैं वह पदार्थ वैसा ही होता है, और अन्य लोगोंको भी वैसाही मानना चाहिए। अतः "नित्य विज्ञान आत्मा है" यह मतवाद युक्ति-संगत नहीं माना जासकता।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा शून्यरूप अर्थात् अभावरूप है। अभावसे ही भाव उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उनकी कल्पना होती

है। दृष्टान्त के लिए वे यह कहते हैं कि देखो बीजसे अंकुर की उत्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक जल और भूतलके संयोगसे बीज सड़ नहीं जाता उसका अभाव नहीं होजाता। किन्तु यह मतवाद इसलिए सङ्गत नहीं कि कोई भी बुद्धिमान् अपनेको "मैं नहीं हूँ" "मैं अभाव हूँ" ऐसा नहीं समझता या प्रयोग करताहै। और अभावसे यदि भावकी उत्पत्ति हो तो अभाव तो सब जगह रहताहै इसलिए सब जगह सब उत्पन्न होना चाहिए। बीज नष्ट होनेपर भी बीजावयव रूप भाव तो रहते ही हैं। उन विलक्षण बीजावयवोंसे ही अंकुर उत्पन्न होताहै, नहीं तो आटेसे क्यों नहीं अंकुर होताहै? बीजका अभाव तो वहाँ भी है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि आत्मा विज्ञान रूप नहीं है और तात्त्विक शरीर इन्द्रिय आदि वस्तुओंसे अतिरिक्त भी है, नित्य और अनेक तथा व्यापक भी है, किन्तु वह कर्त्ता नहीं है। क्रिया-शक्ति जड़धर्म्म है अतःकरनेवाला है त्रिगुणात्मक अन्तःकरण, अर्थात् मन कोई भी काम मन ही करता है आत्मा नहीं। आत्मा उसका साक्षी रहता है। स्वयं प्रकाश होनेके कारण वह तटस्थ भावसे सबका प्रकाशन करताहै। वह तत्त्वतः कर्म्मफलका उपभोक्ता भी नहीं है किन्तु जपापुष्पके पास रखे हुए स्फटिकमें रक्तिमा के समान उसमें उपभोक्तृताका भान होताहै। वह उपभोक्ता सा मालूम होताहै। किन्तु यह मतवाद इसलिए सङ्गत मालूम नहीं होताहै कि सभी लोग इस तरह ज्ञान एवं शब्द-प्रयोग कियाकरतेहैं "मैं यह कर रहा हूँ" "मैं इस कामको जरूर करूँगा" इत्यादि। अतः यह मानना पड़ेगा कि जो "मैं" है वही करता है। "मैं" आत्मा है मन नहीं यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। अतः मानना होगा कि आत्मा द्रव्य है

और यह नित्य व्यापक तथा कर्त्ता है। इस आत्मारूप द्रव्यका प्रत्यक्ष आँख आदि बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं होता किन्तु मनसे होता है। और जब कर्त्ता प्रत्यक्ष होता है तो केवल आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता; ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदि उसके असाधारण गुणके आश्रयरूपमें ही उसका प्रत्यक्ष होता है। जब कभी प्राणी अपनेको समझता है तो "मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूँ" "मैं जानता हूँ" इत्यादि रूपसे ही प्रत्यक्ष करता है। इससे यह मत-वाद भी आलोचित समझना चाहिये कि जड़ बीजसे जैसे अंकुर पत्र काण्ड आदि किसी ज्ञाता और कर्त्ता आत्माके बिनाही होते हैं, उसी प्रकार गर्भस्थ बालशरीर एवं परवर्त्ती जीवन यात्राएँ भी किसी ज्ञाता कर्त्ता और भोक्ता आत्माके बिना सम्पन्न होती हैं, इत्यादि। क्योंकि आजके वैज्ञानिकों तकने यह सिद्ध कर दिया है कि वृक्ष आदि भी ज्ञाता कर्त्ता तथा उपभोक्ता होते हैं। आत्मा न माननेका अर्थ होता है चेतनाका अपलाप जो कि अति अनुभव-विरुद्ध है।

आत्माके प्रभेद

आत्मा जीव और परमेश्वर भेद से दो प्रकार है। जीव वह है जिसके ज्ञान, जिसकी इच्छाएँ, और जिसके यत्न अनित्य हैं। जीव सबसमय सभी वस्तुओंको नहीं समझता है, सब विषयोंमें एक साथ प्रयत्न नहीं किया करता है, क्रमसे विभिन्न विषयोंको समझता है, एवं इच्छा करके प्रयत्न करता है अतः जीव के प्रयत्न अनित्य हैं। जीवात्माएँ अनन्त हैं, क्योंकि सब शरीरोंमें एक जीवात्मा होनेपर सुखी और दुखी का भेद नहीं बनसकेगा। एकके सुखी होनेपर सबको सुखी होना पड़ेगा, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, अतः मानना होगा कि जीव एक नहीं अनेक हैं। सुख दुःख आदि आत्माके धर्म्म

नहीं मनके धर्म्म हैं। यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि करणगत धर्म्मसे कर्त्ताको कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे दीपसे देखनेवाला दीपके समान प्रकाश-स्वभाव नहीं होजाता-है। मन, सुख दुखके समझनेमें साधन होनेके कारण होताहै कारण, उसमें रहनेवाले सुख दुःख से आत्मा अपनेको सुखी दुःखी नहीं समझेगा। किन्तु "मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूं" इस तरह वह अपनेको सुखी दुःखी समझता है। और ज्ञान सुख आदिको मनका धर्म्म माननेपर मन अणु होनेके कारण "मैं सुखी हूँ" इत्यादि मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यह बात पहले भी लिखी जा चुकी है। अतः जीवोंको एक नहीं माना जा सकता, वे अनन्त हैं। उनकी नित्यता एवं व्यापकताके सम्बन्धमें युक्तियाँ दी जा चुकी हैं। यद्यपि सुषुप्ति-कालमें एवं मुक्तिकालमें जीवात्मामें ज्ञान नहीं रहता, फिर भी वह "ज्ञानोपलक्षित" कहा जायगा। क्योंकि जागरण और स्वप्नकालमें उसमें ज्ञान होता। जो कभी रहे और कभी नहीं, वह कहलाता है उपलक्षण, अतः ज्ञान आदिको जीवात्माका उपलक्षण और जीवात्माओंको उससे "उपलक्षित" कहा जा सकता है।

जीवात्मा के प्रभेद

जीव बद्ध और मुक्त भेद से दो प्रकार होते हैं। बद्ध वे कह-लाते हैं जिन्हें इष्ट और अनिष्टका ज्ञान रहता है। शरीर होने के कारण विषयोंके सम्पर्क से सुख दुःख आदिका उपभोग वे किया करते हैं। विपरीत ज्ञान है आत्माके लिए बन्धन। क्योंकि जब तक स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से विपरीत-ज्ञान रहता है तब तक रागद्वेष आदिसे छुटकारा नहीं। उलटा समझनेका ही नामहै विप-रीत ज्ञान, जैसे शरीर आदि अनात्म वस्तुको आत्मा समझबैठना।

जो जबतक भला यथार्थ ज्ञान न करके उलटा ही समझता है वह तबतक कैसे जीवनकी चरम सफलता प्राप्त कर सकताहै? अतः विपरीत ज्ञानवान् अर्थात् मिथ्याज्ञानी जीव होतेहैं बद्ध। देव मनुष्य आदिसे लेकर आकीट पतङ्ग सभी दुःखोपभोग करने-वाले प्राणी होते हैं बद्ध। यद्यपि गाढ़ सुषुप्त प्राणीको उस समय विपरीत ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि सुषुप्ति-कालमें कोई भी ज्ञान नहीं होता, तथापि जागरण होने पर ही तुरत विपरीत-ज्ञान होनेवाला ही रहता है, अतः विपरीत-ज्ञान का आत्यन्तिक नाश नहीं कहा जासकता, इसलिए सुषुप्तप्राणी भी बद्ध कहलाता है। क्लोरो फार्म्म—आदि औषधके प्रयोग से होनेवाली गाढ़ अज्ञा-नावस्था भी गाढ़ सुषुप्ति ही है, और अन्य मूर्च्छा जिसमें मुख आदिका वैकृत्य देखा जाता है उसमें तो दुःख आदिके चिह्न मालूम होनेके कारण विपरीत ज्ञान ही मालूम होता है, अर्थात् शरीर आदिको प्राणी अपनी आत्मा उससमय समझताही रहता है, अतः वह भी बद्धावस्था ही कही जयगी।

मुक्त जीव वे कहलाते हैं जिन्हें विपरीत-ज्ञान न तो हो और न होने वालाहो। मुक्त जीवोंको दो भागोंमें विभक्त किया जासकताहै, जैसे, जीवन्मुक्त और मृत-मुक्त। जीवन्मुक्त वे अमृत-आत्माएँ कहलातीहैं जो अनेक जन्मोंके अपने सदाचरणोंसे विप-रीतज्ञानपर विजय पाजाती हैं। अर्थात् शरीर होते हुए भी शरीर को जो प्राणी आत्मा नहीं समझतेहैं, और न परवर्ती-कालमें वैसा समझनेवाले होते हैं। यद्यपि शास्त्रके पठनपाठन आदि कालमें "आत्मा शरीर नहीं है" ऐसा ज्ञान अमुक्त प्राणीको भी होता है, फिर भी उसे मुक्त इसलिए नहीं कहा जाता कि उसे वैसा ज्ञान नहीं रह जाता, फिर कुछ समय बाद वह शरीरको आत्मा समझ बैठता है, अतः इस तरह आयात-ज्ञातीको मुक्त नहीं कहा जाता।

मृत-मुक्त वे होतेहैं, जो जीवन्मुक्त होकर मरजाते हैं। अर्थात् जीवन्मुक्त महात्मा जब शरीर त्याग देते हैं तब वे ही मृत-मुक्त कहलाते हैं। इन्हें ही मुक्त, परम-मुक्त, निर्वाण-मुक्त आदि शब्दों से लोग पुकारा करतेहैं। सारांश यह कि सभी मिथ्या-ज्ञानोंसे रहित होना है "जीवमुक्ति" और मिथ्या-ज्ञान रहित होकर शरीर रहित हो जाना है "परम-मुक्ति" अर्थात् "निर्वाणमुक्ति।" कुछ लोगोंका कहनाहै कि दुःखों का आत्यन्तिक विनाशका ही नाम है मुक्ति। यह मुक्ति तभी होसकती जब कि शरीर भी न रहजाय। क्योंकि मिथ्याज्ञान-रहित महात्माओंके भी सुख दुःख तबतक बिलकुल नहीं हटते, जबतक शरीर न गिरजाय। प्रारब्ध-कर्म्मके अनुसार सुख और दुःख चरम शरीरके नाश काल तक होते-रहते हैं। ऐसा यदि न हो तो मिथ्या-ज्ञानके हटते ही ज्ञानीको शरीर-पात प्राप्त होजाय। किन्तु वीतराग महात्माओं का भी जीवन देखा जाता है, अतः इस मतवाद में उक्तरूपसे मुक्तिको दो भागोंमें विभक्त नहीं किया जासकता। अर्थात् इस पक्ष में "निर्वाण" ही मुक्ति है, जीवन्मुक्ति नहीं।

जीवन्मुक्तिसे लेकर परममुक्ति तक पहुँचनेकी प्रक्रिया यह है कि, पहले सदाचरण-पूर्वक शास्त्रादिसे पदार्थोंके यथार्थ ज्ञान प्राप्त होनेपर उसके निरन्तर चिन्तनसे विपरीत-ज्ञानका, अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदिमें आत्म-बुद्धिका अभाव होता है। मिथ्या ज्ञान हट जाने पर राग द्वेष मोह रूप दोष नहीं रह जाते, क्योंकि मिथ्या ज्ञान ही है उन्होंका कारण। कारण हट जानेसे कार्य्यका न होना स्वाभाविक है। राग द्वेष आदिके नष्ट होजाने पर पाप और पुण्य नहीं रहजाते, अतः चरम-शरीरका पात होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता। जन्मके अभावसे शरीर न होनेके कारण प्राणी आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तीनों प्रकार दुःखोंसे

छुटकारा पा जाता, वही होती जीवकी परम-मुक्ति। यों तो आत्मा के स्वरूपमें एकमत न होने के कारण मुक्तिके स्वरूपमें भी प्राय: दार्शनिकोंमें मतभेद देखा जाता है, परन्तु इन विषयोंमें सभी दार्शनिक एकमत पाये जातेहैं कि मुक्ति-कालमें दुःख नहीं रहता, और प्राणी सच्चा मुक्त तभी होता जब कि यह शरीर नहीं रह जाता। कुछ लोग जीव-आत्माको भव्य एवं अभव्य भेदोंमें विभाजित करते हैं। भव्य उन्हें कहते हैं जो उक्त क्रमसे कालान्तरमें मुक्त होनेवाले हों। और अभव्य उन्हें कहतेहैं जो कभी मुक्त न होनेवाले हों। अर्थात् मुक्तिकी स्वरूप-योग्यता जिनमें न हो। किन्तु यह मतवाद इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि सत्सङ्ग और सदाचरणसे प्राणियोंमें ज्ञानका सञ्चार देखा जाता है, सुतरां कालान्तरमें भी वे मुक्त न होसकेंगे, ऐसी कल्पनामें कोई युक्ति नहीं।

परमेश्वर

आत्मा प्रथमतः दो भेदों में विभक्त हुई है, जैसे—जीवात्मा और परमात्मा। इस द्वितीय प्रभेद परमात्मा को ही ईश्वर, परमेश्वर आदि शब्दों से कहा जाता है। जीवात्मा से परमात्मा में विशेषता यह है कि जीव के ज्ञान, इच्छा आदि अनित्य होते हैं, किन्तु परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य होते हैं। एवं जीव बहुत हैं, किन्तु परमात्मा परमेश्वर एक ही है। आत्मा के अन्दर ही एक होने के कारण उसे 'पुरुषोत्तम' शब्दसे पुकारा जाताहै। पुरुषों में जो उत्तम हो, वही कहला सकता है—पुरुषोत्तम। जो जिसमें उत्तम होता है, वह तज्जातीय हुआ करता है। "पुरुष" पद को यहाँ आतमवाची समझना चाहिए, पुंस्त्वयुक्त व्यक्ति अर्थक नहीं। परमेश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि वह

सारी जन्य वस्तु का उत्पादक है। जैसे घड़ेका उत्पादक होता है कुम्भकार। उसे उस मिट्टी की पहचान रहती है, जिससे घड़ा बनसकता है। एवं घड़ा बनने की इच्छा भी उसे रहती है और उस उत्पादके लिए वह प्रयत्न भी करता है, अतः कुम्भकार घड़े का उत्पादक, कर्त्ता होताहै। ठीक इसी प्रकार परमेश्वर को चर अचर सभी जन्यों के प्रथम उपादानकारणभूत अतिसूक्ष्म परमाणु तक का ज्ञान, चर अचर सभी को उत्पन्न करने की इच्छा, एवं प्रयत्न होते हैं। अतः वह परमेश्वर जगत् का कर्त्ता है। अतिसूक्ष्म परमाणु तक का जिसे ज्ञान होगा, उसमें अज्ञान भला क्या रह सकताहै? अतः वह परमेश्वर सर्वज्ञ है। जीवात्मा की अपेक्षा उस में एक विलक्षणता यह भी है कि ईश्वर को शरीर नहीं होता। यदि शरीर होगा, तो जीवों के शरीर के समान ही होगा। फिर वह सब जगह, सभी वस्तुओं का उत्पाद नहीं कर सकेगा। जैसे प्राणी जहाँ रहता है, वहाँ ही कुछ कर सकता है, अन्यत्र नहीं। अतः उसे, विनाशरीरका मानना चाहिए। शरीर का धर्म्म है—चेष्टा। चेष्टा शरीरमें ही होती है। वह बहुत स्थानों में कर्त्ता होने के लिए अपेक्षित होती है अवश्य, जैसे कपड़ेका कर्त्ता होने के लिए जुलाहे के शरीर में चेष्टा अपेक्षित होती है। चेष्टा न होनेपर वह कपड़ेका कर्त्ता नहीं होता। किन्तु जहाँ राजा की इच्छासे सेनाएँ युद्ध करती हैं, वहाँ राजा के शरीर में युद्धानुकूल चेष्टा न होने पर भी वह युद्ध का कर्ता होता है। अतएव "अमुक राजा युद्ध कर रहे हैं" इत्यादि ज्ञान और वाक्यप्रयोग होता है। इसी प्रकार परमेश्वर भी शरीर न होनेके कारण चेष्टायुक्त न होनेपर भी जगत् का कर्त्ता होता है।

कुछ लोग भूतावेशन्यायसे ईश्वर का भी शरीर मानते हैं।

अर्थात् प्रेतों को अपना पार्थिव शरीर न होनेपर भी किसी प्राणी के पार्थिव शरीर को अपनाकर वे जैसे शरीरी बन जाते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर भी प्राणिशरीरों को अपनाकर शरीरी बन सकता है। किन्तु यह मत इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि सृष्टि हो जाने पर तो उक्त प्रक्रिया सङ्गत होसकती है, प्राणीके शरीर को परमेश्वर अपने शरीर रूपसे ले सकताहै, किन्तु भूतसृष्टि के आदि में तो कोई प्राणिशरीर रहता नहीं, फिर किसे अपना कर परमेश्वर सृष्टि के अनुकूल चेष्टायुक्त हो सकेगा? और परमाणुओं को जोड़कर द्व्यणुक बना सकेगा?

अन्य कुछ लोगों का कहना यह है कि परमेश्वर को शरीर अवश्य है, क्योंकि विनाशरीरका कोई कर्त्ता नहीं हो सकता। किन्तु हम लोगों के शरीर के समान भगवान्‌का शरीर नहीं है, अन्यथा उन पत्थरों के भीतर वह मेढ़क को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। इतना बड़ा शरीर निश्छिद्र उन पत्थरमें कैसे पैठ सकेगा? अतः यह मानना चाहिए कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन के जितने भी परमाणु हैं, वे ही हैं, उस जगत्स्रष्टा के शरीर। उन में जब क्रियारूप चेष्टाएँ उनकी इच्छा के अधीन होती हैं, जिस प्रकार हमारी इच्छा के अधीन प्रयत्नसे हमारे शरीर में चेष्टा होती है, तब द्व्यणुक आदि पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

परमात्मा को सुख या दुःख नहीं होता, क्योंकि ऐसा होनेसे वह भी जीवों के समान निजी सुखभाव और दुःख निवृत्तिके लिए हाय हाय करने लगेगा, और जगत् के सञ्चालनमें शिथिलता आजायगी।

परमेश्वर केवल जगत् की सृष्टि ही नहीं करता, उसकी रक्षा और अन्त में संहार अर्थात् नाश भी करता है। कुछ लोग

परमेश्वर का अस्तित्व नहीं मानते। उनकी युक्तियाँ ये हैं—कोई भी बुद्धिमान् किसी कार्य को करने के लिए प्रवृत्त तभी होता है, जब कि उससे कोई अपना लाभ उसे दिखायी देता, अथवा किसी को दुःखी देखकर उस दुःख से उसका उद्धार करना चाहता है। परमेश्वर के जगत्-रचनास्थल में इन दोनों में से एक भी कारण लागू नहीं होता। प्रथम इसलिए नहीं कि जब परमेश्वर को सुख या दुःख होता ही नहीं, तब लाभ या अलाभ भला क्या हो सकता है? अतः अपने लाभ के लिए परमेश्वर सृष्टिरचना करता है—यह नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय इसलिए नहीं कि सृष्टि-प्रथमकाल में—जब कि कोई प्राणी था ही नहीं तब—किसे दुःखी देखकर उसे दया आयी, कि उससे उसे उद्धृत करनेके लिए ईश्वरने जगत् की रचना की? और यदि प्राणियों पर अनुकम्पा होने के कारण जगत् की उसने रचना की, तो सभी को उसे सुखी बनाना चाहिए था। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर प्राणी हाय हाय करते हुए दुःखी ही पाये जाते हैं। अतः जगत् की उत्पत्ति के लिए परमेश्वर माना जायगा, यह बात नहीं कही जा सकती, इत्यादि। किन्तु यह कथन इसलिए नहीं जमता कि यदि ईश्वर जगत् की व्यवस्था करनेवाला न हो, तो जगत् का कार्य्यक्रम नियन्त्रित नहीं होना चाहिए। सूर्य्य कैसे प्रतिदिन ठीक नियत-समय पर उदित होता है? चन्द्रमा की ह्रास-वृद्धि कैसे नियन्त्रितभाव से होती है? अन्य ग्रह और उपग्रह भी कैसे नियन्त्रित-भाव से ठीक अपनी ही कक्षा में परिभ्रमण करते हैं? ऋतुओं का सञ्चार कैसे ठीक समय पर ही होता है? विभिन्न फूल फल आदि क्यों तत्तत् समयमें ही हुआ करते हैं? कर्त्ताके विना बीजसे अंकुर कैसे उत्पन्न होता है?

बिना किसी विधारक का यह भूगोल कैसे स्थिर है? गिर कर चूर्ण विचूर्ण क्यों नहीं हो जाता? अनादि काल से प्रवृत्त वाच्यवाचक-भाव का प्रवर्त्तन किसने किया? सर्वप्रथम उपदेष्टा कौन हुआ? सृष्टि की आदि में परमाणुओं से द्व्यणुक की रचना किसने की? जिस के अन्दर एक भी अङ्ग निष्प्रयोजन नहीं देखा जाता एतादृश प्राणियों के शरीरयन्त्र का आविष्कार किसने किया? इच्छा के विपरीत अतर्कित सुख-दुःख का विधान प्राणियों के लिए कौन करता है? घड़े, कपड़े आदि साधारणसे साधारण कार्य भी जब कर्त्ताके विना होते नहीं देखे जाते, तब इस विशाल विचित्र जगत् की रचना कर्त्ताके विना यों ही कैसे हो गयी? मयूर के पङ्खों को किसने चित्रित किया? हंस को किसने शुभ्रवर्ण से वर्णित किया? बच्चों की उत्पत्ति के पहले ही माता के शरीर में दो दुग्धघट की सृष्टि कौन करता है?

यदि यह कहा जाय कि इन सबका नियामक है—स्वभाव। ये सारे कार्य स्वाभाविक हुआकरतेहैं, तो यह जिज्ञासा उठ खड़ी होतीहै कि वह स्वभाव, जो कि नियन्ताहै, चेतन है या अचेतन? यदि चेतन हो, तब तो उसीका नामान्तर होगा, "परमेश्वर" "महेश्वर" "ब्रह्म" आदि। अतः परमेश्वर मानही लिया गया। यदि स्वभाव को अचेतन माना जाय, तो वह किसी एक चेतनके नियन्त्रणके विना कुछ कर नहीं सकता। अत; मूलनियन्ता कोई चेतन मानना ही होगा।

आधुनिक वैज्ञानिक लोग प्राणिसृष्टिके सम्बन्धमें जिस विकासवादको अपनाते हैं, उस वादमें तो ईश्वर न मानकर और भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि पहले मेरुदण्डरहित प्राणियों की सृष्टि हुई। फिर अदृढ मेरुदण्डवाले प्राणिशरीरोंकी। इस

प्रकार होते होते सबके पीछे सभी उपयोगी अंगोंसे सम्पन्न मनुष्य-शरीरकी उत्पत्ति हुई, इस प्रकार विकासवादी लोग प्राणिशरीरोंकी सृष्टिकी प्रक्रिया मानते हैं। यह सृष्टि बुद्धिपूर्वक ही हो सकती है, क्योंकि जब तक पूर्व पूर्व प्राणिशरीरोंमें त्रुटि नहीं देखी जायगी, तब तक परवर्ती शरीरोंमें उसका संशोधनकर पूर्णता नहीं लायी जा सकती। त्रुटिका दर्शन कोई चेतन ही कर सकता है, अचेतन नहीं, सुतरां जड स्वभाव भी नहीं। अतः मानना होगा कि बुद्धिपूर्वकारी कोई चेतनही जगत्का कर्त्ता है।

रही बात सृष्टि करनेमें प्रवृत्तिकी, परमेश्वरको जब स्वयं कोई स्वार्थ नहीं और अनुकम्पा भी नहीं, तब वह जगत्की रचना क्यों करता है? इस सम्बन्धमें विचार करनेपर यही बात स्थिर होती है कि यह प्रश्न तब हो सकता यदि सृष्टिका कारण परमेश्वरमात्रही होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है, प्राणियोंके भोगानुकूल शुभ और अशुभ संस्कार भी परसृष्टिमें कारण होता है। इसी संस्कारका अपर नाम—है नियति अदृष्ट, इत्यादि। इसीके अनुरोधसे स्वार्थ किंवा कारुण्यके न होते हुए भी परमेश्वर जगतकी सृष्टि करता है। यदि यह कहा जाय कि फिर तो अदृष्टको ही सबका नियामक मान लेना चाहिए, उसीसे सारी व्यवस्थाएँ बनजायेंगी, परमेश्वर माननेका प्रयोजन क्या? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि अदृष्ट भी आखिर जड़ अर्थात् अचेतन ही है। अचेतन, चेतन से अधिष्ठित न होते हुए—किसी चेतनके नियन्त्रणमें न आते हुए, किसीका उत्पादक नहीं हो सकता, यह बात पहले भी बतलायी जाचुकी है। अतः जड़ अदृष्टके अधिष्ठातारूपसे परमेश्वरका अस्तित्व

मानना ही होगा। उसे अनेक न मानकर एक इसलिए माना जाता है कि एक ईश्वरसे ही यदि सबका संचालन हो जाय, तो व्यर्थ अनेक ईश्वर क्यों मानना ? दूसरी बात यह कि यदि ईश्वरको अनेक माना जाय, तो आपसमें उनका मतभेद भी हो सकेगा, और मतभेद होने पर व्यवस्था न हो सकेगी। तीसरी बात यह कि अनेकमें समज्ञता नहीं पायी जाती। अर्थात् बहुत की तो बात क्या, कोई दो मनुष्य भी ऐसे उपस्थित नहीं किये जा सकते, जिनके ज्ञान समान हों। अतः उन अनेक ईश्वरोंके ज्ञान भी समान न होसकेंगे। वैषम्य अनिवार्य होनेपर जिसका ज्ञान सबसे अधिक होगा, वही ईश्वर हो सकेगा। अतः ईश्वर एकही है, ऐसा मानना होगा, अतएव वह सर्वज्ञ है।

मन द्रव्य

स्पर्श गुणसे रहित, परमाणु-परिमाणवाले द्रव्यका नाम है मन। मनुष्य अपने ज्ञान इच्छा यत्न आदिको समझता है, क्योंकि "मैं इस बातको समझता हूँ" "मुझे इस विषयका ज्ञान है" इस प्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग प्रायः सभी लोग किया करते हैं। उक्त "समझता हूँ" यह ज्ञान, समझने को समझना है। अतः घट आदि बाह्य वस्तुको समझनेके लिए जैसे आँख आदि बाह्य इन्द्रियोंकी आवश्यकता होती, तैसे ज्ञानको समझनेके लिए भी किसी इन्द्रियकी आवश्यकता स्वाभाविक है। ज्ञानके समान सभी सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि गुण एवं उनके आश्रय आत्माके प्रत्यक्षके लिए "मन" नामक द्रव्यकी आवश्यकता होतीहै। इतना ही नहीं मन यदि न माना जाय तो ज्ञान इच्छा आदिकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि "पुरीतत्" नामकी नाड़ीके बाहर किन्तु शरीरके भीतर जब आत्मा और मनका संयोग होता है

सभी ज्ञान आदि आत्म-गुणोंकी उत्पत्ति होती है। प्राणियोंको यदि मन न होता तो संसारकी अवस्था प्रायः और ही कुछ होती। प्राणी जितने भी भले बुरे कार्य्य करते हैं सबमें मनका प्रधान रूप से हाथ है। मनमें ही दोष आने पर प्राणी पागल हो जाता है। मनकी स्वस्थता पर ही सद्विचार अवलम्बित होता। मनकी एका-ग्रताके अभ्यास द्वारा इसपर अधिकार प्राप्त करनेपर मनुष्य बहुत कुछ आश्चर्य्यजनक प्रदर्शन करता, एवं कर सकता है। जितने इन्द्रजाल आदि खेल दिखाये जाते हैं, सारे मनके आधार पर ही अवलम्बित होते हैं। स्वप्न कालमें तो मानों इसका साम्राज्य अति विस्तृत बन जाताहै। यहाँ तक कि जिस बातको कभी प्राणी उस जन्ममें देखता नहीं उसे भी यह मन स्वप्नरूपमें उसके सामने उपस्थित कर देता है। इसे द्रव्य इसलिए माना जाता है कि अन्य-द्रव्य-साधारण गुण इसमें विद्यमान हैं। क्रियाको तो मानों यह अपनी दासी बना रखा है। यही कारण है कि एक शरीरमें एकही होने पर भी अति शीघ्रतासे इसके समग्र कार्य्योंका सम्पादन होता है। बाह्य विषयोंका निर्धारण, इच्छा प्रयत्न आदिका सम्पादन तो यह करता ही है साथही "जीवन योनि" नामक यत्नको भी पैदा करता रहता है, जिससे श्वास प्रश्वास स्वरूप प्राण-सञ्चार प्रतिक्षण हुआ करता है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर सावयव तेजरूप मानते हैं। कुछ लोग सावयव तो नहीं मानते हैं, किन्तु पृथिवी जल तेज वायु इनके परमाणुके अन्दरही यह कोई एक होताहै, ऐसा मानते हैं। कुछ लोग इसे अतिरिक्त द्रव्य तो मानते हैं किन्तु रबरके समान "सङ्कोच-विकास-शील" अर्थात् सकुचने एवं फैलनेवाला मानते हैं। जो लोग इसे सावयव तेज-रूप मानते हैं, उनका कहना है कि यह आँखके रास्ते बाहर जाता, और जो द्रष्टव्य-विषय सामने रहता है तदाकार, उसी प्रकार बन

जाता है, जैसे खेत यदि त्रिकोण होताहै तो नालीके रास्ते गया हुआ जल वहाँ त्रिकोणाकार बन जाता है, और खेत यदि चतु-ष्कोण होता है तो जल चतुष्कोण हो जाता है। यह इसका द्रष्टव्य वस्तुके आकारके समान आकारवान् हो जाना ही है किसी द्रष्टव्य वस्तुका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान। किन्तु यह मतवाद इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि किसी द्रव्यके प्रत्यक्षस्थलमें तो यह बात बन जायगी, किन्तु जहाँ गुण क्रिया जाति या अभावका प्रत्यक्ष होगा वहाँ उन पदार्थोंको कोई अकार न होनेकेकारण कैसे उसका आकार धारणरूप प्रत्यक्ष हो सकेगा? जो लोग भौतिक परमाणु-ओंसे किसी एकको "मन" मान लेते हैं उनका कथन इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि किसके परमाणु को मन माना जाय, यह निर्णय नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि, भौतिक सभी परमाणुओं-का यह स्वभाव है कि सजातीय परमाण्वन्तरसे संयुक्त होकर द्व्यणुक द्रव्यका आरम्भ करना, फिर यह भौतिक परमाणु, जिसे कि मन स्वीकार किया जायगा क्यों न अन्य परमाणुसे संयुक्त होगा या द्व्यणुकारम्भ करेगा? यदि होगा, और करेगा, तो वह फिर मन कैसे रह सकेगा? तीसरी बात यहहै कि भौतिक-रेणुओंमें यह स्वभाव भी पाया जाता है कि किसी और द्रव्योंसे संयुक्त होनेपर बहुत दिन तक भी संयुक्त वे रह जाते हैं, मन इस स्वभावका उल्लंघन क्यों करेगा? और यदि नहीं करेगा तो किसी शरीरावयवसे संयुक्त होकर यदि कहीं कुछ रोजके लिए बैठ गया, तो सारा काम ठप हो जायगा, किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः इसे अतिरिक्त मानना ही उचित है। जो लोग रबरके समान इसे सङ्कोच-विकासशाली मानतेहैं उनका कहना यह है कि कभी तो एक कालमें एकही ज्ञान उत्पन्न होताहै, और कभी एक कालमें ही बहुत ज्ञान उत्पन्न होते हैं, जैसे—जब कि एक बड़ी जलेबी लेकर कोई खाताहै तो आँखसे

उसे देखता भी रहता है, जिह्वासे रसास्वाद भी करता है और नाक से उसके गन्धको भी सूंघता रहता है, अतः मानना होगा कि मन उस समय फैलकर तीनों इन्द्रियोंसे संयुक्त हुआ है। अतः उसे सङ्कोच-विकासशाली मानना चाहिए। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि इसे सङ्कोच विकासशील मानने पर सावयव मानना पड़ेगा, और सावयव मानने पर पार्थिव जलीय परमाणु, द्व्यणुक, त्र्यणुक आदिके समान मानस-परमाणु, मानस द्व्यणुक, मानस-त्र्यणुक आदि क्रमसे नूतन द्रव्यारम्भ भी मानना होगा, जिससे व्यर्थ कल्पना-गौरव होगा। रही बात एक कालमें अनेक ज्ञानोत्पादकी, सो तत्त्वतः एक कालमें अनेक ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु क्षण अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण विभिन्न क्षणोंमें होनेवाले विभिन्न ज्ञानोंमें एक-क्षणोत्पादका भ्रम होता है। जैसे साधारणतया लोग यही समझते हैं कि सूर्य जिसी क्षण में उदयाचल पर आता है उसी क्षण घरमें प्रकाश आजाता है, किन्तु तत्त्वतः बात ऐसी नहीं है, सूर्यके किरणोंको बिम्बस्थलसे लेकर घरतक आनेमें बहुत क्षण लग जाते हैं। एवं कमल फूलके सैकड़ों पत्तोंको नीचे ऊपरके क्रमसे जोड़कर रखकर यदि तेज किसी नोकदार लोहेसे छेदाजाय तो मालूम यही होता कि एक क्षणमें ही सारे पत्ते छेद दिये गये हैं, परन्तु तत्त्वतः उसमें पाँच सौ क्षण लगेगें। क्योंकि क्रिया, विभाग, पूर्वसंयोग-नाश उत्तर देश-संयोग, और क्रियानाश इतने कार्य्यों के लिए ५ क्षण लगेंगे, और इतने क्षण प्रत्येक पत्तोंके छेदनके लिए अपेक्षित होंगे। इसी तरह जहाँ अनेक ज्ञान एक क्षणमें हुए मालूम होते हैं वहाँ भी क्षण विभिन्न ही होतेहैं, केवल मालूम होता है कि एक क्षणमें ज्ञान होते हैं। अतः मनको संकोच-विकासशाल, सावयव माननेका कोई प्रयाजन नहीं रह जाता। इसी लिए प्राचय-पदार्थ-शास्त्रियोंने इसे निरवयव परमाणु-परिमाणवाला अतिरिक्त द्रव्य माना है।

अन्धकार

कुछ लोग इन नौ द्रव्योंसे अधिक अन्धकारको भी द्रव्य मानते हैं। उनका कहना यह है कि जब द्रव्यका स्वभाव अन्धेरे में पाया जाताहै, एवं पृथिवी आदि उक्त नौ द्रव्योंमें उसका अन्तर्भाव नहीं होताहै तब उसे एक स्वतन्त्र द्रव्य माननाही पड़ेगा। जिसमें गुण हो वह द्रव्यहै, यह बात पहले कही जा चुकी है। अन्धेरेमें नीलरूपहै यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, फिर क्या नहीं उसे द्रव्य माना जाय? जिस पक्षमें क्रियावालेकोही द्रव्य माना जाताहै उस पक्षमेंभी इसे द्रव्य माननाही होगा। क्योंकि अन्धकार का चलन भी उस समय स्पष्ट प्रतिभात होताहै, जबकि दीप आदि किसी प्रकाशकको एक जगहसे और जगह ले जाते हैं। उक्त पृथिवी आदि नौ द्रव्योंमें उसका अन्तर्भाव, इस-लिए नहीं किया जासकता कि उनके स्वभावसे इसका स्वभाव कुछ और ही दिखाई देता। पृथिवीमें इसलिए नहीं कि उसमें गन्ध है, किन्तु अन्धेरेमें सुगन्ध या दुर्गन्ध कुछ भी नहीं है। जल और तेज इनमें इसका अन्तर्भाव इसलिए नहीं कि इन दोनोंके अन्दर किसीमें नीलरूप नहीं है, किन्तु अन्धेरेमें नीलरूप है। वायुसे लेकर मन तकमें इसकी गतार्थता इसलिए नहीं कही जा सकती कि वे सारे रूपहीन हैं और अन्धेरा नीलरूपवालाहै, अतः अन्धेरेको स्वतन्त्र द्रव्य माननाही उचित है। एतदतिरिक्त एक प्रबल युक्ति वह भी है कि यह आवरक होताहै। अन्धेरे के अन्दर जो किसी वस्तुको कोई नहीं देखपाता, इसका कारण यह है कि यह उन पदार्थोंको दीवार कपड़े आदि द्रव्योंकी भाँति वह ढक लेता है। ढकना किसी भौतिक द्रव्यकाही स्वभाव हो सकताहै इत्यादि। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम

पड़ता कि जिस द्रव्यमें रूप होताहै उसमें स्पर्श भी अवश्य पाया जाता। अर्थात् रूपरहित स्पर्शवान् द्रव्य तो पाया जाता है; यथा वायु; किन्तु रूपवालाहै और उसमें स्पर्श नहींहै ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता। अन्धेरेमें कोई स्पर्श पाया नहीं जाता है। व्यापक जहाँ नहीं होताहै व्याप्य वहाँ कभी नहीं रह सकता; जैसे जो प्राणी नहीं है वह कभी मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणीत्व व्यापक है और मनुष्यत्व व्याप्य, इसीलिए जिसमें प्राणीत्व नहीं जाता, उसका जहाँ अभाव होता, वहाँ मनुष्यताका भी अभाव होना अनिवार्य्य हो जाताहै।। अधिक स्थानोंमें रहनेवाला कहलाता है व्यापक और अल्पस्थानमें रहनेवाला व्याप्य। अतः जब कि व्यापक स्पर्श, तमके अन्दर नहीं है तो माननाही होगा कि व्याप्य जो रूप वह भी नहीं है। रही बात प्रतीतिकी, अर्थात् नीलरूप उसमें प्रत्यक्ष देखा जाताहै, फिर कैसे अन्धेरेको रूप-रहित मान लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि प्रतीति सब यथार्थ-ही नहीं होती; भ्रमज्ञान भी हुआ करताहै। किसी वस्तुका अस्तित्व यथार्थ ज्ञानके आधारपर ही माना जाता है, न कि भ्रमज्ञानके आधारपर। अन्धेरेमें जो नीलरूप देखा जाता है, वह देखना यथार्थज्ञान नहीं, अपितु सीपमें चाँदीके ज्ञानके-समान मिथ्या ज्ञान है। यह कोई जरूरी नहीं है कि सभी मिथ्याज्ञानोंके अनन्तर बाध-निश्चय अर्थात् भ्रमके विपरीत यथार्थ-निश्चय होनाही चाहिए। जैसे किसी खास स्थानमें "दिङ्-मोह" अर्थात् विपरीत दिशाका ज्ञान होताहै, प्रायः वह जीवनभर उसे रह जाता है, अतः परक्षणमें अन्धेरा नीला नहीं है।' इस बाधज्ञानके न होनेपर भी "अन्धेरा नीला है" इस ज्ञानको मिथ्या-ज्ञान कहा जा सकता है। अतः नील-रूप तत्त्वतः उसमें

न होनेके कारण, गुणके आश्रय होनेके नाते जो उसे द्रव्य होनेका दावा किया जाताथा, वह नहीं किया जासकता। अब रही चलन रूप क्रिया की बात, सो भी उसे द्रव्य इसलिए नहीं सिद्धकर सकती कि क्रिया भी अन्धकारमें नहीं है, इसकी प्रतीति भी उसी तरह भ्रमहै, जैसे किसी वेगवान् गाड़ी या नौकापर सवार होनेवालेको यह मालूम पड़ता कि दोनों बगलके वृक्ष आदि पीछे भागे जारहेहैं। दीप आदिके प्रकाशके चलनेसे मालूम पड़ता कि अन्धकार चल-रहा है, तत्त्वतः अन्धेरा चलता नहीं। अतः उसे द्रव्य नहीं कहा जा सकता, सुतरां उसे अधिक द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता। फिर वह है क्या? इसके उत्तरमें कहना यह है कि प्रौढ़ प्रकाश-कारी तेजका अभावही अन्धकार है। क्योंकि जहाँ दीप आदि तेज नहीं होता वहीं ही उसका अस्तित्व मालूम होता। पदार्थोंका आवरण करता है यह बात भी नहीं है। अन्धेरेमें वस्तुका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि आँखका सहायक बाह्य-प्रकाश वहाँ नहीं होता। अन्धेरेको देखनेके लिए आँखको बाह्य प्रकाश की आवश्यकता इसलिए नहीं होती कि वह अन्धेरेका प्रति-योगी अर्थात् विरोधी होता है। अन्धकारको प्रकाशका अभाव माननेमें कल्पना-लाघव भी बहुत होता, नहीं तो पार्थिव जलीय परमाणु द्व्यणुक आदिके समान अन्धकारका भी परमाणु द्व्यणुक आदि मानना पड़ता। कुछ लोगोंका कहना है कि अन्धकार अभाव नहीं है किन्तु आरोपित नील रूप है। किन्तु इस मतवादमें प्रश्न एक यह उठ खड़ा होता कि "आरोपित नील रूप" का अभिप्राय क्या? यदि वह रूप हो तो उसके प्रत्यक्षके लिए प्रकाशकी आवश्यकता होनी चाहिए। क्योंकि स्फटिकमें आरोपित जपापुष्पगत रक्तिमाको देखनेके

लिए भी तो प्रकाशकी अपेक्षा होतीही है। और यदि नीलरूपका भ्रम होताहै तो अधिष्ठान क्याहै? निरधिष्ठान, अर्थात् किसी आश्रयके विना, भ्रम नहीं होता। प्रकाशाभावको आश्रय मानकर उसमें नीलरूपका भ्रम होता है, ऐसा कहनेसे तो वही बात आई कि प्रकाशाभाव अन्धकार है, और उसपर नीलरूपका भ्रम होता है, जैसे आकाश में।

—:o:—

सुवर्ण

कुछ लोग सोनेको स्वतन्त्र अर्थात् उक्त द्रव्योंसे अधिक द्रव्य मानते हैं। उनका कहना यह है कि गुरुत्व अर्थात् भारीपन उसमें होनेके कारण तेज आदि किसी द्रव्यमें उसे गतार्थ नहीं किया जासकता, और द्रवत्व अर्थात् पिघलना उसमें स्वाभाविक न होनेके कारण उसे जल नहीं कहा जासकता। और पहरों तक आगमें जलाने पर भी उसका द्रवत्व अर्थात् तारल्य नष्ट न होनेके कारण उसे पृथ्वी नहीं कहा जासकता, अतः अगत्या उसे अतिरिक्त द्रव्य मानना ही पड़ेगा। किन्तु सिद्धान्त यही है कि वह तेजके अन्दर गतार्थ हो जाता, उसे अधिक द्रव्य नहीं मनना चाहिए। रही बात गुरुत्वकी, सो सुवर्णका नहीं है किन्तु उसमें मिले हुए पार्थिव भागका है। अर्थात् जिसे हमलोग सोना कहते हैं वह पार्थिव और तैजस दोनों द्रव्योंको सम्मिलित रूप है। उसको सोना कहना गौण प्रयोग है। उसके अन्दर जो तैजस अंश है, जिसमें अग्निका संयोग होनेसे तरलता आती है और वह तरलता किसी अन्य जड़ी बूटियोंके सम्बन्धके विना नष्ट नहीं होती, वही है मुख्य सुवर्ण। पार्थिवभागका संश्लेष इसलिए भी मानना पड़ताहै कि पीलापन पृथिवी

द्रव्यको छोड़कर और किसीमें नहीं पाया जाता। व्यावहारिक सोनेका रूप पीला देखा ही जाता है, अतः उसमें पार्थिव भागहै और उसी भागमें भारीपन भी है और पीलापन भी, किन्तु तरलता उस पृथिवी-भागकी नहीं, वह तेजरूप सोनेकी है। क्योंकि वह यदि पृथिवीकी होती तो अवश्य घृत आदिकी तरलताके समान कुछ देर तक आगपर तपानेसे नष्ट हो जाती। कुछ लोग इस तरह युक्ति लड़ाते हैं कि यदि वह पिघलनेवाला तेज रूप सुवर्ण, व्यावहारिक सुवर्ण-पिण्डके अन्दर न बैठा होता, तो देखा जानेवाला पार्थिव-भाग का पीलापन अग्नि संयोगसे अवश्य नष्ट हो जाता, क्योंकि अन्य पार्थिव पदार्थोंमें यही बात देखी जाती है, अतः मानना होगा कि पीत रूप एवं गुरुत्वके आश्रयभूत पार्थिव भागसे अतिरिक्त उसके भीतर छिपा हुआ तेज है, जो पिघलकर अग्नि संयोग होनेपर भी उस पार्थिव पीलेपनको नष्ट नहीं होने देता, वही है वास्तविक सुवर्ण। कुछ लोगोंका कहना है कि सुवर्ण पार्थिव पदार्थ है, वह तेज नहीं है। विलक्षणता तो परस्पर पार्थिव द्रव्योंमेंभी पायी जाती है, अतः यह एक विलक्षण पार्थिव द्रव्य हो सकता है। अन्य पार्थिवों का तारल्य अत्यन्त अग्नि-संयोगसे उच्छिन्न होने पर भी इस सुवर्ण-रूप पार्थिव द्रव्यका तारल्य नहीं भी उच्छिन्न हो सकता है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि सजातीयके साथ सजातीयको विरोध नहीं होना और विजातीयके साथ विरोध होना स्वाभाविक है। आग सुवर्णको भस्म नहीं करती, उसके द्रवत्वको उच्छिन्न नहीं करती, यह इसलिए उचित होता कि दोनों एक जातीय हैं। यदि वह पार्थिव होता तो आगका विजातीय होनेके कारण उसके द्रवत्वको आग अवश्य नष्ट करती, जैसे घृत आदिके द्रवत्वको नष्ट करती है। अतः उसे तेज मानना ही उचित है। समानजातीयोंमें भी अवान्तर-विजातीयता होती

है सही, किन्तु इस प्रकार अत्यन्त वैजात्य नहीं होता। और इस प्रकार अति वैजात्य पाये जाने पर भी यदि एकमें अपरको गतार्थ माना जाय तो फिर किसी पदार्थका विभाग नहीं बनेगा। अतएव सुवर्णको पृथिवी नहीं मानना चाहिए।

द्रव्यारम्भ

उक्त नौ प्रकार द्रव्योंमें, आकाश आदिके परमाणु न होने के कारण उनमें द्रव्यारम्भ नहीं होता। अर्थात् आकाश प्रभृति द्रव्य अनेक अवयवोंके संयोगसे नहीं बनते हैं, और उनके संयोग से कोई नया द्रव्य उत्पन्न ही होताहै अतः आकाश प्रभृति द्रव्य न किसी द्रव्यके अवयव होते हैं और न जन्य अवयवी होते हैं। किन्तु पृथिवी जल तेज और वायु ये द्रव्य ऐसे नहीं होते हैं अर्थात् ये अवयव तथा अवयवी दोनों प्रकार होते हैं। जैसे दो पार्थिव परमाणुओंसे एक द्व्यणुक नामक नूतन पार्थिव द्रव्य उत्पन्न होता है। तीन द्व्यणुकोंके संयोगसे एक त्र्यणुक नामक नूतन पार्थिव द्रव्य उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बढ़ते बढ़ते बहुत तन्तुओंसे "पट" दो कपालोंसे घट, बहुत ईंटोंसे एक मकान बनताहै। तन्तु, कपाल, ईंटे आदि होते हैं "उपादान" और पट, घट, मकान आदि होते हैं "उपादेय" अर्थात् उपादान-कारणके कार्य्य। उपादेय—द्रव्य अनेक उपादानोंके संयोगसे उत्पन्न होता है। उपादेय द्रव्योंको ही अवयवी भी कहा जाता है। कुछ लोगोंका मत यह है कि अवयवी कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं होता। अर्थात् नूतन कोई अवयवी जैसे उक्त घट पट आदि शब्दोंसे कही जानेवाली कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। परमाणुको समष्टि-विशेषको ही लोग घट पट आदि नामोंसे पुकारते हैं, तत्त्वतः कोई भी नूतन द्रव्य उत्पन्न नहीं होता।

विलक्षण परमाणु-पुञ्जके अतिरिक्त आखिर घट, पट आदि क्या हो सकता ? यदि विवेचना की जाय तो बहु संख्यक तन्तुओं को छोड़कर पट नामकी कौनसी वस्तु है, ईंटोंको छोड़कर मकान क्या वस्तु है ? कुछ भी नहीं। इस प्रकार विवेचनाको बढ़ाने पर अन्तमें सभी अवयवी कही जानेवाली वस्तुको एक एक परमाणु-पुञ्ज ही मानना होगा। किन्तु यह मतवाद इसलिए सङ्गत नहीं कि एक पिशाच जैसे नहीं देखाजाताहै उसी प्रकार पिशाचोंका पुञ्ज भी नहीं देखा जाता, तद्वत् एक परमाणु जब नहीं देखा जाता, तो परमाणु-पुञ्ज कैसे देखा जा सकता ? यदि यह कहाजाय कि दूरसे एक केश नहीं देखा जाता किन्तु केशोंका समुदाय देखा जाता है उसी प्रकार एक परमाणु अप्रत्यक्ष होने पर भी उसके पुञ्जरूप घड़े आदिका प्रत्यक्ष हो सकेगा ? तो यह कथन इसलिए सङ्गत नहीं होता कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें समता नहीं होती। कारण एक भी केश निकट जाने पर देखा ही जाताहै, वह अतीन्द्रिय नहीं है। किन्तु परमाणु तो पिशाचके समान अतीन्द्रिय है। यदि यह कहाजाय कि अदृश्य परमाणु के पुञ्ज से दृश्य परमाणु पुञ्ज उत्पन्न होताहै फिर तो एक अवयवीका उत्पाद मान ही लेना उचित मालूम होता। पुञ्जोत्पादसे कहीं अच्छा होगा कि एक स्वतन्त्र अवयवी का उत्पाद मान लिया जाय। क्योंकि पुञ्जोत्पादका पर्य्यवसित अर्थ होगा उतने परमाणुके करोड़ो परस्पर संयोगोंका उत्पाद। जो एक अवयवीका उत्पाद माननेके लिए प्रस्तुत नहीं, वह करोड़ो संयोगोंका उत्पाद मानकर क्या लाभ उठायेगा ? इससे तो कहीं अच्छा यही होगा कि एक अवयवीकी उत्पत्ति मानलीजाय।

अवयवी माननेके लिए प्रबलयुक्ति यहभी है कि किसी भी

द्रव्यको जो एक एवं महान् सभी लोग समझते, तथा कहतेहैं, वह पुञ्जवादमें बनता नहीं। क्योंकि वृक्षभी जब परमाणु पुञ्ज ही है, तब उसको कैसे एक एवं महान् कहा जा सकता? परमाणु एक नहीं बहुत हैं, अतः उन्हें एक नहीं कहा जा सकता। एवं सभी परमाणु ही हैं अतः महान् नहीं कहा जासकता। किन्तु सभी लोग उसे एक और महान् कहते हैं, अतः वृक्षको एक और महान् अवयवी मानना होगा। सभी लोग भ्रान्त ही हैं, सभी लोगोंका वृक्षको एक और महान् समझना भूलही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय भ्रमतो नहीं किन्तु वह ज्ञान एवं व्यवहार औपचारिक अवश्य है। अर्थात् जैसे किसी मनुष्यको सिंहसे भिन्न समझते हुए भी सिंहके समान पराक्रम-युक्त होनेके कारण लोग "यह मनुष्य सिंह है" इस प्रकार वाक्य प्रयोग किया करते हैं, एवं लोग उस वाक्यसे बोध भी किया करते हैं, उसी प्रकार एक वा महान् न होनेपर भी उसे एक एवं महान् कह दिया जाता है। तो यह इसलिए उचित नहीं कहा जासकता कि प्रयोग औपचारिक होने पर भी ज्ञान औपचारिक नहीं होता। अर्थात् बोलनेवाला या सुननेवाला कोई "यह मनुष्य सिंह है" इस वाक्यसे यह नहीं समझता कि यह मनुष्य सचमुच सिंह है, किन्तु यही समझता है कि "यह मनुष्य सिंह के समान पराक्रमी है" किन्तु वृक्ष को सभी लोग एक एवं महान् समझतेहैं, न कि केवल वाक्य-प्रयोग करतेहैं। सबसे बड़ी बात यह है कि यदि कदाचित् यह भी मान लिया जाय कि किसी वस्तु को एक और महान् समझना लोगों की भूल है, फिरभी किसी न किसी द्रव्य में एकत्व और महत्त्व सच्चा माननाहोगा, और पहले उसमें "यह एक और महान् है" इस प्रकार यथार्थ-ज्ञान भी मान लेना होगा। क्योंकि जब तक किसी भी वस्तु का कहीं यथार्थ ज्ञान न हो लेताहै, तब तक उसका मिथ्या ज्ञान भी

नहीं होता। जो आदमी पहले चाँदी को चाँदी नहीं समझता वह पीछे-सीप में या राङ्गे में "यह चाँदी है" ऐसा भ्रम-ज्ञान नहीं कर पाता। इसीतरह जबतक किसी द्रव्य में "यह एक है यह महान् है" इस प्रकार यथार्थ ज्ञान नहीं हो लेगा तब तक वृक्ष में "यह एक है, यह महान् है" इस तरह भ्रम-ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। कहीं किसी द्रव्य में यदि "यह एक है यह महान् है" इस प्रकार यथार्थ ज्ञान मान लियाजाय तो वहाँ ही परमाणु-पुञ्जवाद भङ्ग होकर अवयवी की उत्पत्ति मान लेनी पड़ेगी, फिर वृक्ष आदिका ही क्या अपराध है कि उसे एक स्वतन्त्र महान् अवयवी न माना जाय। किसी गुण में या क्रिया में एकत्व ज्ञान-को, एवं महत्त्व ज्ञान को यथार्थ-ज्ञान मानकर वृक्ष आदिमें उसका भ्रम ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि गुण, द्रव्य में ही रहता है। एकत्व-रूप संख्या और महत्त्व-स्वरूप परिमाण, ये भी गुण होने के कारण गुण में नहीं रह सकते। वृक्ष आदि को परमाणु मानने पर प्रत्यक्ष मात्र का अभाव होजायगा, क्योंकि द्रव्य परमाणु रूप हो जायेंगे अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा। और जब द्रव्य का ही प्रत्यक्ष नहीं होगा तो तदाश्रित गुण क्रिया जाति आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः स्वतन्त्र अवयवी मानना चाहिये। यदि अवयवी न मान कर परमाणु-पुञ्ज ही माना जायगा तो पदार्थों के गुण-भेद अर्थात् प्रयोजन-भेद नहीं हो सकेंगे। जो काम तन्तु से होता है वह काम कपड़े से नहीं होताहै, जो काम कपड़े से चलता है वह तन्तु से नहीं चलता। प्रत्येक वस्तुका कार्य अलग अलग पाया जाताहै, यह बात सभी द्रव्यों को परमाणुपुञ्जरूप मानने पर कभी नहीं होसकती। क्योंकि परमाणुओंमें कोई वैलक्षण्य नहीं होता, सभी पार्थिव परमाणु एक से ही होते हैं। इतना ही

नहीं, खाद्य अखाद्य आदि का विधि निषेध कुछ नहीं बनेगा। अर्थात् चिकित्सक लोग जो विभिन्न रोगोंके लिए विभिन्न पथ्या-पथ्य की व्यवस्था देते हैं, और उससे लाभ अलाभ देखा जाताहै, वह नहीं होसकेगा। ऐसा कोई मतवाद नहीं जिसमें कुछ न कुछ खाद्याखाद्य का बिचार, किसी न किसी कारणसे न किया गया हो। परन्तु अवयवी न माननेवालेके सिद्धान्तमें वह कभी नहीं बन सकता। क्योंकि विष्ठा भी एक परमाणु-पुञ्ज ही रहेगा और मिष्टान्न भी वही। अतः अवयवी को स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही चाहिए। फिर कोई दोष रहने नहीं पाता।

—०—

कारण

किसी भी जन्य वस्तुकी उत्पत्ति किसी कारणसे हुआ करती है, चाहे वह वस्तु द्रव्य हो या गुण अथवा कर्म। जिसके रहने पर जो कार्य उत्पन्न हो, और जिसके न रहने पर जो कार्य उत्पन्न न हो, वह उस कार्य के प्रति कारण होता है। जैसे आग न होनेपर किसी भी वस्तु को जलाया नहीं जा सकता है, आग से जलाया जा सकताहै, अतः आग दाह के प्रति कारण होती है। इसी-प्रकार तन्तुओं के होने पर कपड़े बनते हैं और उनके न होने पर नहीं बनते अतः तन्तु कपड़ेके प्रति कारण होते हैं। और कपड़ा न होने पर उसमें रूप रस आदि कोई गुण उत्पन्न नहीं होते, अतः उन गुणों के प्रति कपड़े को कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार यदि वृक्ष की शाखा न हो तो वायुके धक्के से उनमें कम्पन-स्वरूप कर्म्म नहीं पैदा हो सकता क्योंकि विना आश्रय की उत्पत्ति किसी की भी कैसे हो सकती? अतः उस चलन के प्रति वह वृक्ष-शाखा है कारण। कार्य के प्रति यदि कारण न माना जाय

तो वह "कादाचित्क" न हो सकेगा, अर्थात् या तो कार्य सर्वदा होगा, या कभी नहीं होगा। किन्तु कभी होगा और कभी होगा नहीं, जैसा कि होताहै, नहीं हो सकेगा। अतः कार्य के प्रति कारण मानना ही होगा। सारे कार्य्य एक कारण से उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि यदि ऐसा होता तो कार्य्यों की उत्पत्ति, जो क्रम से होती है, अर्थात् सभी कार्य एक साथ ही उत्पन्न नहीं हो जाते। यह बात नहीं हो पाती। कार्योत्पादन-दक्ष वह एक कारण कार्योत्पत्तिमें विलम्ब क्योंकरता? अतः यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न कार्य्यों के प्रति कारण भी बिभिन्न हुआ करते हैं। एवं कोई भी कार्य्य एक मात्र कारणसे उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे कपड़ा केवल तन्तु मात्र से नहीं उत्पन्न होसकता, जबतक कि करघा, और बीननेवाला आदि अन्य कारण नहीं जुट जाते। अतः मानना पड़ेगा कि कार्य्य की उत्पत्ति तब होती है जब कि कारणोंकी समष्टि-रूप सामग्री जुटती है। परन्तु सामग्री के बीच प्रत्येक सदस्य को कारण माना जाताहै, क्योंकि किसी भी एक के बिघटन से कार्य्य उत्पन्न नहीं होने पाता।

कुछ लोग कार्य-कारण-भाव नहीं मानते। उनका कहना है कि कोई भी वस्तु नई नहीं उत्पन्न होती, अतः कारण किसके प्रति माना जायगा? हाँ "अभिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जकभाव" है। अर्थात् जिसे आरम्भवादी कारण कहा करते हैं तत्त्वतः वह अभिव्यञ्जक है, और जिसे कार्य्य कहते हैं वह अभिव्यङ्ग्य है। जो पहले से ही विद्यमान वस्तुको प्रकाशित करे अर्थात् लोगोंको उसका ज्ञान करावे वह होता है "अभिव्यञ्जक" और जिसकी उस अभिव्यञ्जकसे अभिव्यक्ति हो अर्थात् उससे जो समझाया-जाय, वह कहलाता है "अभिव्यङ्ग्य"। जैसे दीपसे विद्यमान

वस्तुओं का ज्ञान होता है वह वस्तुओंको समझाताहै अतः वह होता है अभिव्यञ्जक। और वृक्ष, फल फूल आदि पदार्थ जो कि अन्धेरेमें नहीं देखे जातेहैं दीप के सहारे देखे जाते हैं वे हैं अभिव्यङ्ग्य। इसी तरह मट्टीसे घड़ा, तन्तुओंसे कपड़ा तत्त्वतः उत्पन्न नहीं होता, किन्तु पहले मट्टी तन्तु आदि रूप से वह विद्यमान ही रहताहै, किन्तु कुम्भकार तन्तुवाय आदि अभिव्यञ्जकोंसे सम्वलित मृत्तिका और तन्तुस्वरूप अभिव्यञ्जकसे अभिव्यक्त अर्थात् स्पष्टरूपसे प्रकाशित होता है मात्र। किन्तु यह मतवाद इसलिए युक्तियुक्त मालूम नहीं होता कि यदि उपादान में उपादेय छिपे रहते हैं, ऐसा माना जाय, जैसा कि वेलोग मानते हैं तो एक बरगद के अतिक्षुद्र बीज में असंख्य महावृक्षों की स्थिति माननी होगी। क्योंकि इस एक बीजसे एक वृक्ष होकर उससे करोड़ों बीज और उनसे फिर करोड़ों महावृक्ष, और उनसे फिर असंख्य बीज, इसप्रकार अनन्त संसार में पीछे पीछे जितने भी उसकी सन्तानधारा में महावृक्ष उत्पन्न होनेवाले होंगे, सबकी अव्यक्त रूप से अवस्थिति इस मूल बीज में मानना होगा। परन्तु क्या उतने परमाणु इस बीज के अन्दर हो सकते? यदि नहीं तो यह मानना कैसा उपहासास्पद होगा? अतः यही मानना उचित है कि पूर्व पूर्व एक एक बीज में पर पर वर्त्ती एक एक वृक्षका उत्पादन सामर्थ्य स्वरूप कारणता विद्यामान है, जिससे पीछे पीछे महावृक्ष उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सभी कार्य्य के सम्बन्ध में समझना चाहिए। साथ ही इस मतवाद के खण्डन में उन युक्तियों को भी ध्यान रखनामें चाहिए, जिनका उल्लेख परमाणु-पुञ्जवादके खण्डनमें किया गया है। जैसे— यदि आरम्भवाद न मानाजाय तो पदार्थोंके परस्पर सम्मिश्रण से जो विभिन्न गुणों का आधान होता है वह नहीं होना

चाहिये। क्योंकि नई वस्तु तो इस मतमें बन ही नहीं सकती। यदि यह कहाजाय कि सब में सब गुण रहते हैं उनका प्रकाश संयोगसे होताहै तो, यह भी नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि संयोग भी तो उसमें नया नहीं माना जासकता, फिर तो सर्वदा उससे वह लाभ या दोष होनाचाहिए जो संयोगके अनन्तर पाया जाता है। साथही विधि निषेध खाद्याखाद्य पथ्यापथ्य आदि की सारी व्यवस्थाएँ चौपट हो जायेंगी। अतः आरम्भवाद मानना ही पड़ेगा। और फिर कार्य कारण भाव भी अनिवार्य्य ही स्वीकृत होगा।

—०—

कारण के प्रभेद

कारणोंको प्रथमतः दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिये,जैसे—उपादान-कारण और अनुपादान-कारण। उपादान-कारण उसे कहा जाता है जो उपादानाश्रित न होता हुआ कार्य्यान्वयी हो। जैसे पटके प्रति उपादान कारण होते हैं तन्तु, उन्हें कार्यान्वयी इस लिए कहा जाता है कि पटके अस्तित्वकाल में उसके अवयव-रूपमें उनका रहना अनिवार्य्य होता है। यद्यपि तन्तुओंमें होनेवाले परस्परके संयोग भी, कार्य्यान्वयी होते हैं, क्योंकि जब तक पटका अस्तित्व होता है तब तक संयोग का भी रहना अनिवार्य्य होताहै, तथापि वह उपादानाश्रित होने के कारण उपादान नहीं हो सकता। वह तन्तुस्वरूप पटके उपादानमें ही आश्रित होताहै। अतः वह उपादान नहीं होता। इसी प्रकार पटमें होनेवाले रूप-रस आदि गुणोंके प्रति तथा किसी चलन स्वरूप कर्मों के प्रति वह पट उपादान कारण होता है। अन्यत्र भी इसी तरह समझना चाहिए। अनुपादान कारणोंको

भी दो भागों में विभक्त होते हैं। यथा, उपादानमात्राश्रित एवं उपादानानाश्रित। अर्थात् प्रकृत कार्य्यके उपादानमें रहनेवाला और उपादानमें नहीं रहने वाला। जैसे तन्तुओंके परस्पर संयोग, पटकार्य्य के प्रति उपादानाश्रित कारण होतेहैं। क्योंकि संयोग पटके उपादनकरण होनेवाले तन्तुमें हो होतेहैं और रहते हैं। उपादानानाश्रित कारण पट कार्य्यंके प्रति, करघे जुलाहे आदि अन्य सभी अपेक्षित कारण हुआ करते हैं। इनका कार्य्य-शरीरमें प्रवेश नहीं होता, अतः ये कार्य्यान्वयी नहीं होते। करघे जुलाहे आदि सभी कारण पट-शरीर से बाहर ही रहते, अतः पट उत्पन्न हो जाने के अनन्तर यदि इनका नाश भी हो जाय तो पट के रहनेमें कोई बाधा नहीं पहुँचती। यद्यपि तन्तुरूपके अनुरूप ही पटमें रूप उत्पन्न होनेके कारण पटके रूपके प्रति तन्तुके रूपोंको कारण मानना आवश्यक है, और उक्त कारणोंमें उनकी गतार्थता नहीं होती। क्योंकि द्रव्य न होनेके कारण उन्हें उपादान-कारण नहीं कहा जासकता। और तन्तुके रूप तो तन्तुमें आश्रित होते हैं, पटरूपके उपादान पटमें नहीं, अतः उपादानाश्रित कारण भी कहना कठिन है, कारणऔर तन्तु पटके भीतर विद्यमान रहतेहैं अतःउनके रूप भी उसके भीतर ही विद्यमान रहते हैं अतः कार्य्या-न्वयी होनेके कारण उन्हें कार्य्यानन्वयी उपादानानाश्रित भी नहीं कहा जा सकता, तथापि उपादान अथवा उपादानके उपादान किसीमें भी आश्रित होनेवाले कारणको उपादानाश्रित मानकर प्रदर्शित द्वितीय प्रभेदमें उसका अन्तर्भाव करना चाहिए। पटरूपका उपादान है पट, और उसका उपादान है तन्तु, उसमें आश्रित होनेके कारण तन्तुका रूप पट-रूपके उपादानके उपादानमें रहनेवाला होताहै। प्राचीन पदार्थशास्त्रियोंने "उपादान" को समवायिकारण और उपादानाश्रित"अनुपादान"कारणको असम-

वायिकारण और उपादानानाश्रित "अनुपादान" कारणको निमित्त कारण कहते हैं। समवायिकारण द्रव्य ही होता है। असमवायिकारण गुण और कर्म्म ही हुआ करते हैं और निमित्तकारण द्रव्य, गुण, कर्म्म तीनों ही हो सकते हैं।

सृष्टि

यों तो संसार अनादि है। इसकी आदि-सृष्टि नहीं कही जा सकती, तथापि खण्डप्रलयोंके अनन्तर होनेवाली सृष्टियोंको स्वीकार करना ही पड़ेगा। जबकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रत्येक कार्य्य उत्पन्न होते हैं तो मानना ही होगा कि इस चराचर समष्टिरूप संसारकी भी उत्पत्ति कभी न कभी हुई होगी। यदि हुई तो कैसे हुई इस सम्बन्धमें यों तो बहुत मतभेद है फिर भी बहुमत यह है कि खण्डप्रलयके अवसानमें भगवान्‌को पुनः सृष्टिकी इच्छा होती है तदनुसार परमाणुओंमें कम्पन होता है जिससे परमाणु परस्पर संयुक्त होते हैं, जिससे द्व्यणुक नामक द्रव्यकी उत्पत्ति होती है। द्व्यणुककी उत्पत्ति होनेके अनन्तर तीन द्व्यणुकोंके संयोगसे त्र्यणुक नामक द्रव्यकी उत्पत्ति होती है। इसी तरह "चतुरणुक" पञ्चाणुक आदि क्रमसे पृथिवी, जल आदिकी सृष्टि होती है। कुछ लोगोंका कहना है कि प्रलयकालमें परमाणु स्वतः कम्पनशील रहते हैं किन्तु वेगाधिक्य-प्रयुक्त एक भी परमाणु अपर परमाणुसे संश्लिष्ट होकर स्थायी द्व्यणुक नहीं बनाता। प्रलयावसानमें वेग कम हो जानेके कारण एक परमाणु अपर परमाणुसे स्थायीरूपसे संयुक्त हो पातेहैं, जिससे द्व्यणुक द्रव्यकी उत्पत्ति हो पाती है। और पूर्वोक्त क्रमसे त्र्यणुक आदिकी उत्पत्ति होकर महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। जो लोग आकाशको भी परमाणु मानते हैं उनके मतमें द्व्यणुक आदि

क्रमसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचो महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। किन्तु जो लोग आकाशको नित्य, एक एवं व्यापक मानते हैं, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, उनके मतमें पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार महाभूतोंकी ही उत्पत्ति द्व्यणुक आदि क्रमसे होती है। महाभूतोंकी सृष्टि हो जाने पर व्याप्त जलराशिके बीच परमेश्वरकी इच्छाके प्रभावसे एक स्वर्णाभ अण्ड उत्पन्न होता है। क्रमसे बढ़कर जिसके फटनेपर उससे हिरण्यगर्भ नामक प्रथम शरीरीकी उत्पत्ति होती है जिनसे समग्र प्राणियोंकी सृष्टि होती है।

कुछ लोगोंका कहना है कि अवान्तर सृष्टि नहीं होती। अर्थात् यह संसार अनादि और अनन्त ही है। अतः सृष्टिकी प्रक्रिया भी कोई नहीं है। जैसे आज कार्य्यकारणभाव देखा जाता है वैसाही बराबर पहले भी था और बराबर पीछे भी रहेगा।

प्रलय

जिस भाव वस्तु की उत्पत्ति देखी जातीहै उसका विनाश भी नियमतः देखा ही जाताहै। अतः इस स्थावर-जङ्गमात्मक संसारकी यदि सृष्टि हुई है तो मानना ही होगा कि इसका विनाश भी कभी होगा। उस विनाशका ही नाम है "प्रलय"। इसे सामान्यतः दो भागोंमें विभक्त किया जासकताहै जैसे खण्ड-प्रलय और महाप्रलय। खण्डप्रलय उस समय होताहै जब कि परमेश्वरको संहारकी इच्छा होनेपर परमाणुओंमें जोरोंका कम्पन होनेके कारण द्व्यणुक-नाश त्र्यणुक-नाश आदि क्रमसे समग्र महाभूतों, अथवा जन्य चार महाभूतोंका विनाश होता है। केवल परमाणु एवं उसमें कम्पन एवं उसके रूप, रस आदि गुण, जो

कि उसमें उत्पन्न हुए होते हैं, रह जाते हैं। अभिप्राय यह कि समस्त जन्य द्रव्योंके नाशका ही अपर नाम है खण्डप्रलय। खण्डप्रलयमें कम्पन और गुणोंका नाश इसलिए नहीं होता कि पुनः सृष्टि होने वाली होती है। कुछ लोगोंके मतमें खण्डप्रलय-कालमें एकही ब्रह्माण्ड नहीं, सारे ब्रह्माण्ड नष्ट होते हैं। किन्तु बहुमत यह है कि सारे ब्रह्माण्ड एक ही साथ नष्ट नहीं होते। युक्तियुक्त भी यही मालूम होता। क्योंकि जब प्रत्येक ब्रह्माण्डका सञ्चालक हिरण्यगर्भ स्वतन्त्र होता है, व्यवस्थाएँ अलग-अलग होतीहैं फिर कोई खास कारण नहीं दिखाई देता कि सारे ब्रह्माण्ड एक कालमें ही नष्ट हो जायँ। आधुनिक वैज्ञानिकोंकी सम्मति भी कुछ इधर ही मिलती सी मालूम पड़ती है। क्योंकि इन लोगों का कहना यह है कि पृथ्वीके आकर्षण-शक्तिसे सूर्य्यमण्डल इस लोककी ओर बराबर आकृष्ट हो रहा है। जब कि वह इस लोकके अति निकट आ जायगा तो यह पृथिवी मनुष्यावास योग्य नहीं रह जायगी। केवल मनुष्य ही नहीं कोई भी प्राणी इस भूभाग पर नहीं रह पायेगा। किन्तु पर-भाग अर्थात् जिधरसे सूर्य्य इधरको खिसक रहा है उधरकी ओर प्राणिसृष्टि होगी। किन्तु एक बात यहाँ अवश्य ध्यान रखने की है कि इस तरहकी परिस्थितिको खण्डप्रलय भी नहीं कहा जा सकता। यह तो एक प्रकार प्राणि-प्रलय सा होगा। खण्डप्रलयमें तो कोई महाभूत नहीं रह जाते।

महाप्रलय तब होता जब कि जन्यद्रव्य तो नष्ट हो ही जाते हैं साथ परमाणु भी निष्क्रिय और जन्यगुणरहित हो जाते हैं। कम्पन और जन्य गुणोंको परमाणुओंमें रहनेका प्रयोजन इस लिए नहीं होता कि पुनः सृष्टि होनेवाली नहीं रह जाती। परन्तु यह महाप्रलय सर्ववादिसम्मत नहीं है। क्योंकि दो दिनोंके बीचमें आने वाली एक रातके ऊपर दृकूपात करने पर यह तो

सङ्केत मालूम पड़ता कि खण्डप्रलय अवश्य तब होता होगा, जब कि समस्त प्राणियोंके भोग्यादृष्ट स्तब्ध हो जाते होंगे, और समग्र प्राणी भोगरहित हो जाते होंगे, और अदृष्ट स्तब्ध हो जानेके कारण जीवोंके सारे शरीर इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक साधन तथा बाह्य वस्तु स्वरूप आधिभौतिक साधन नष्ट हो जाते होंगे। किन्तु महाप्रलय असम्भव प्रतीत होती है। दूसरी बात यह है कि महाप्रलय तभी हो सकता है जब कि आकीट पतङ्ग सारे प्राणी तत्त्वज्ञानी होकर मुक्त हो जाँय। नहीं तो भोग्यादृष्ट, शरीर आदि साधनकी निष्पत्ति कराये विना नहीं रह सकता।

कुछ लोग तो खण्डप्रलय माननेमें भी बहुत प्रतिबन्धक देखते हैं, उनका कहना है कि उत्पत्ति सजातीयसे ही सजातीयकी हुआ करती है। यदि खण्ड प्रलय हो तो सर्वप्रथम मनुष्य किस मनुष्यसे उत्पन्न होगा? और प्रत्येक दिनके पहले दिन देखा जाता है, यदि खण्डप्रलय हो तो सृष्टयादिका प्रथमदिनके अव्यवहित पहले कहाँसे दिन आयेगा? इत्यादि। इसके उत्तरमें प्राच्यपदार्थशास्त्रियोंने यह बतलाया है कि जैसे केलेके पेड़से भी केलेके पेड़ उत्पन्न होते हैं और कभी वनाग्नि-दग्ध-वेत्रबीजसे भी वे उत्पन्न होते जाते हैं, कभी तो चौराईके बीजोंसे चौराई सागकी उत्पत्ति होती है और कभी चावलको धो धो कर फेंके गये पानीमें मिले हुए कणसे उसकी उत्पत्ति हो जाती, उसी प्रकार अभी मनुष्यसे मनुष्य, पशुसे पशु, इस प्रकारसे उत्पत्ति होने पर भी खण्डप्रलयके बाद प्रथम मनुष्यकी उत्पत्ति ईश्वरकी इच्छा मात्रसे हो जायेगी। और किसी महीनेका द्वितीय तृतीय आदि अहोरात्रके अव्यवहित पूर्वमें उस मासका एक अहोरात्र पाये जानेपर भी जैसे उस मासके प्रथम अहोरात्रके पहले उस मासका अहोरात्र नहीं होनेपर कोई हानि नहीं होती उसी प्रकार खण्डप्रलयके

अनन्तर प्रथम अहोरात्रके अव्यवहित पहले अहोरात्र न होने पर कोई क्षति नहीं कही जा सकती इत्यादि।

जो लोग विकासवादी हैं उनके मतमें भी प्रलय नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य कुछ भी करता रहे उसका पतन जब नहीं हो सकता, विकास ही होगा, फिर अशेष प्राणियोंका विनाश क्यों हो जायगा? एवं उनके उपभोगोंके साधन अकस्मात् क्यों नष्ट हो जायँगे? जो लोग छोटा-पतन स्वीकार नहीं करते वे लोग सर्वाधिक पतनरूप प्रलय भला कैसे मान सकते? परन्तु इन विकास-वादियोंसे पूछना यह चाहिए कि जब मनुष्यका पतन नहीं हो सकता, तो वे मरते आखिर क्यों? क्या मरना पतन नहीं है? यदि नहीं तो सभी लोग उससे डरते हैं क्यों? सभी लोग उसे चाहते हैं क्यों नहीं? मनुष्यकी बात क्या, पैदा होने वाले वस्तु-मात्रका विनाश देखा जाता है, क्या वह उन पदार्थोंके पतनकी पराकाष्ठा नहीं है? साथ ही जब कि अनादिकालसे विकास ही होता आरहा है तो आज भी इतने प्राणी दुखी क्यों पाये जाते हैं? क्या मलमूत्रके कीटाणु भी विकास प्राप्त जीवोंके भीतर ही हैं? क्या विकासवादी उन्हें भी सुखी विकासी-जीव समझते हैं? कभी नहीं। फिर यह सिद्धान्त कैसे सङ्गत या हृदयङ्गत हो सकता? यदि यह कहा जाय कि विकासका अधिकारी मनुष्य ही होता है तो यह इतना पक्षपात क्यों? अन्य प्राणियोंका क्या इतना बड़ा अपराध है कि उनका विकास नहीं होता है? और यह परस्पर विरुद्ध होनेके कारण अपसिद्धान्त होता, क्योंकि यह भी उक्त लोगोंका सिद्धान्त है कि प्राणियोंकी सृष्टि क्रमिक विकास-पद्धतिसे ही हुई है। पहले मेरुदण्डरहित प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई। फिर अदृढ़-मेरुदण्डवाले उत्पन्न हुए और फिर दृढ़-मेरुदण्डवाले

प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई। फिर यह कैसे कहा जा सकता कि विकासके अधिकारी मनुष्य ही हैं अन्य जीव नहीं। यदि यह कहाजाय कि मनुष्य अपने अच्छे आचरणोंसे उन्नत हो सकते हैं, विकास प्राप्त कर सकते हैं, इतना ही विकास वादियोंका अभिप्रेत है, तो फिर इस वादमें कोई महत्त्व नहीं रह जाता, कोई नवीनता नहीं रह जाती, क्योंकि अच्छे आचरणोंसे जैसे मनुष्य उत्थान प्राप्त कर सकते हैं। बुरे आचरणोंसे वे पतन भी पा सकते हैं, यह मानना होगा। फिर इस वाद को विकासवाद ही क्यों कहा जाय? कुछ लोग इस युक्तिसे इस वादकी पुष्टि करते हैं कि पहले रेल तार रेडियो बिजली आदि वस्तुएँ नहीं थीं, क्रमसे दिन दिन आविष्कार हो रहाहै अतः विकास मानना होगा। परन्तु यह निर्णय कैसे किया जासकता कि अनादि संसारमें आजतक कभी ये पदार्थ नहीं हुए थे। जब कि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि रातमें अदृश्य होकर फिर वही सूर्य नवीनतया उदित हुआ-सा मालूम होता है। अमावस्यामें अदृश्य होकर चन्द्रमा फिर प्रतिपत्से दृश्य होता है। प्रति वर्ष उन्हीं वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतुओंका सञ्चार होता है, कोई नवीनता नहीं आती, फिर यह कैसे निर्णय कर लिया जाय कि ये आविष्कार बिलकुल नवीन हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बीचमें ये सभी लुप्त हो गये थे, और पुनः उनका प्रकाशन हुआ। यदि थोड़ीदेरके लिए इन्हें बिलकुल नूतन ही मान लियाजाय, फिर भी इसके आधार पर विकासवादका स्वीकार उचित नहीं हो सकता, क्योंकि नवीन आविष्कारके समान अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण विज्ञान परवर्त्ती कालमें नष्ट भी होजाया करतेहैं। जैसे महाभारतसे पूर्ववर्त्ती अनेक विज्ञान आजकल लुप्त हैं।

द्रव्यग्रन्थ समाप्त

गुण-ग्रन्थ ।

गुण

गुण वह वस्तु है जिसे आपामर-साधारण मनुष्य द्रव्यमें रहने वाला एवं कर्मसे भिन्न भाव-पदार्थ रूपमें समझता है। जैसे-किसी भी नील पीत आदि रूपोंको सभी मनुष्य इस प्रकार समझते हैं कि यह अमुक वस्तुका रूप है, यह चलन नहीं है और यह अभाव नहीं है। समान्यतः गुण शब्द का प्रयोग लोग उस अर्थमें किया करते हैं जो अपने आश्रय का अपने द्वारा उत्कृष्ट समझाये। यहाँ भी रूप रस आदि अर्थमें गुण शब्द का प्रयोग इसी अभिप्राय से प्राच्य-पदार्थशास्त्रियांने कियाहै। क्योंकि रूप रस आदिके उत्कर्षसे द्रव्यवस्तु की उत्कृष्टता समझी जातीहै। गुण, द्रव्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जा सकता। जैसे सौन्दर्य आदि द्रव्यमें ही रह सकता, सौन्दर्य्यमें सौन्दर्य नहीं रह सकता, इसी प्रकार सारे गुण द्रव्यमें ही रहतेहैं, गुण आदिमें नहीं। फूलका कोई रूप हो सकताहै किन्तु रूप का भला फिर रूप क्या हो सकेगा ? इसी प्रकार किसी भी फल और फूलमें कोई माधुर्य्य आदि रस हो सकताहै किन्तु माधुर्य्यका क्या माधुर्य्य हो सकता ? अतः मानना होगा कि गुण द्रव्यमें ही रहतेहैं, गुणों में नहीं। इसी प्रकार कर्म्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव नामक पदार्थों में भी गुण नहीं रहते। किन्तु द्रव्य ऐसा कोई भी नहीं हो सकता जिसमें कभी न कभी गुण न हो। प्राच्य पदार्थ-शास्त्रियोंने गुण का लक्षण इस प्रकार बतलाया है कि जो द्रव्यों से एवं

कर्मोंसे भिन्न होता हुआ जाति नामक पदार्थका आश्रय हो, वही है गुण। उनका अभिप्राय यह है कि जाति नामक पदार्थ द्रव्य गुण और कर्म्म इन तीन पदार्थोंमें ही रहता है, अतः द्रव्य और कर्म्मसे भिन्न होता हुआ जो जातिमान् होगा वह गुण ही होगा, क्योंकि अपनेमें अपना भेद नहीं रहनेके कारण द्रव्य और कर्म्म द्रव्य और कर्म्मसे भिन्न नहीं हो सकते। सामान्य आदि पदार्थोंमें जाति रहती नहीं, अतः ऐसा पदार्थ फलतः गुणही हो सकेगा।

कुछ लोग गुणको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते। उनका कहना है कि गुण और गुणी एकही वस्तु होते हैं। फूल और उसके रूपको अलग अलग नहीं देखा जा सकता है अतः दोनोंको एकही मानना उचित होगा। इसी प्रकार रस गन्ध आदि गुणोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम पड़ता कि यदि रूप और फूल दोनों तत्त्वतः एक हों तो "रूप फूल है" "फूल रूप है" ऐसा लोग समझें या वाक्य-प्रयोग करें, किन्तु ऐसा न समझकर एवं वाक्यप्रयोग न कर "फूल का यह रूप है" "फूल ऐसा रूपवाला है" इस प्रकार समझते एवं वाक्यप्रयोग किया करते हैं, जिससे आश्रयाश्रित-भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। अर्थात् फूल आश्रय है और रूप उसमें रहनेवाली उससे अतिरिक्त वस्तु है, ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है। आश्रयाश्रितभाव दो भिन्न पदार्थोंमें ही नियमतः हुआ करताहै। जैसे रथ होताहै आश्रय और रथी मनुष्य होताहै उसपर आरूढ़, आश्रित। ये दोनों परस्पर एकसे भिन्न ही तो हैं? रही सह-प्रत्यक्षकी बात, अर्थात् एकको छोड़कर पृथक् रूपसे दूसरेका प्रत्यक्ष न होनेकी बात, सो आधाराधेयभाव-मूलक भी हो सकती है। जब आसन पर बैठे मनुष्यको कोई देखताहै तो साथ ही आसनको भी देखता ही है, परन्तु इससे आसन और आसनपर बैठनेवाले दोनों एक नहीं

हो जाते । दोनों परस्पर एकसे भिन्न ही रहते हैं, इसी तरह आश्रयाश्रित-भावापन्न द्रव्य एवं गुणोंको एक न समझकर परस्पर भिन्न ही समझना चाहिए ।

कुछ लोगोंका कहना है कि गुण और गुणी अत्यन्त अभिन्न तो नहीं हैं अर्थात् दोनों बिलकुल एक ही नहीं हैं किन्तु ये दोनों परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं । अर्थात् इन दोनोंमें "भेदाभेद" सम्बन्ध है । क्योंकि अत्यन्त भिन्न इसलिए नहीं कहा जा सकता कि दोनोंको परस्पर एकसे अलग नहीं किया जा सकता, एवं समझा जा सकता । और अत्यन्त अभिन्न अर्थात् एक इसलिए नहीं माना जा सकता कि "फूल रूप है" "फूल रस है" इस तरह ज्ञान या वाक्य-प्रयोग कोई कभी नहीं करता, अतः गुण और गुणीद्रव्य को कथञ्चित् परस्पर भिन्न और कथञ्चित् परस्पर अभिन्न मानना चाहिए । परन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि भेद और अभेद अर्थात् परस्पर भिन्न, दो होना और एक होना यह अत्यन्त विरुद्ध है । दो पदार्थ परस्पर संयुक्त या सम्बद्ध भले ही हों परन्तु वे कभी एक नहीं हो सकते । जैसे परस्पर भिन्न होनेवाले अश्व और महिष कभी एक नहीं हो सकते । उसी प्रकार गुण और गुणी अर्थात् गुण और द्रव्य, जैसे नील, पीत आदिरूप और उसके आधार फूल, ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते । और यदि आग्रह करके इन्हें एक माना जायगा तो फिर ये भिन्न नहीं होसकते अतः मानना होगा कि इन दोनों का "भेदाभेद" युक्त, सङ्गत नहीं कहा जा सकता । अभिन्न मात्र मानने से पूर्व-प्रदर्शित भेद-प्रतीति नहीं बन सकती, अतः माननाही होगा कि ये दोनों हैं परस्पर भिन्न पदार्थ । किन्तु आश्रयको छोड़कर न रहना गुणों का स्वभाव है अतः उनका ज्ञान अनाश्रित रूपसे नहीं होता ।

गुणके प्रभेद—

यौंतो अवान्तर भेदोंके ऊपर दृक्पात करने पर गुण भी असंख्य होतेहैं। क्योंकि इनके आश्रय अनन्त हैं, तथापि वर्गीकरणके आधार पर इनका भी परिगणन होसकता है। मुख्यतया ये तेइस प्रकार होते हैं। जैसे (१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) ज्ञान (१३) सुख (१४) दुःख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) प्रयत्न (१८) गुरुत्व (१९) द्रवत्व (२०) स्नेह (२१) संस्कार (२२) अदृष्ट और (२३) शब्द। कुछ लोगोंका कहना है कि प्राचीन पदार्थशास्त्रियोंने प्रयत्न पर्य्यन्त केवल १७ गुण मानते थे। परवर्त्ती विद्वानोंने और छः प्रकार अधिक गुणोंका अस्तित्व मानकर इनकी संख्या २३ तेइस करडाली। जो भी कुछ हो विचार करनेपर उक्त तेइस प्रकार गुणोंका अस्तित्व मानना उचित ही जँचता। जो आगेके विशेष विचारसे स्वतः स्पष्ट हो जायगा। कुछ लोग कठिनत्व कोमलत्व आदिको भी स्वतन्त्र गुण मानकर गुणोंकी संख्यामें वृद्धि स्वीकार अपेक्षित समझते हैं। परन्तु यह इसलिए सङ्गत प्रतीत नहीं होता कि उन्हें संयोगगत धर्म्म मानकर भी निर्वाह जब हो सकता फिर संख्याधिक्यका स्वीकार वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। इसका विशेष विवेचन यथास्थान किया जायगा।

रूप गुण

रूप वह है जो केवल चक्षुसे ही ज्ञात होनेवाला गुण है। चक्षुसे ज्ञात द्रव्य, कर्म्म आदि वस्तु भी होतीहै परन्तु वे गुण नहीं है। संयोगका ज्ञान यद्यपि चक्षुसे होताहै एवं वह संयोग गुण भी है तथापि वह केवल चक्षुसे ही ज्ञात नहीं होता। क्योंकि दो द्रव्यों-

के संयोगको स्पर्शकर त्वचासे भी समझा जाता है। अतः केवल चक्षुरिन्द्रियसे प्रत्यक्ष किया जानेवाला गुण रूप ही है। कुछ लोग रूप पदसे आत्मा और वाचक-शब्द इन दोनोंसे अतिरिक्त सभी वस्तुओंको कहतेहैं। परन्तु यहाँ उस परिभाषाका आदर नहीं समझना चाहिए। कारण, आपामर-साधारण लोग नील पीत आदिको ही रूप कहते हैं। रूपमें यह विशेषता है कि वह जिस द्रव्यमें होता है उस द्रव्यका भी किसी बाह्य इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होताहै। जिस द्रव्यमें रूप नहीं होता उसका बाह्य इन्द्रियोंसे अर्थात् चक्षु और त्वक् इन दोनोंके अन्दर किसी भी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यही कारण है कि वायुका त्वगिन्द्रियसे भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु त्वगिन्द्रियसे स्पर्शका प्रत्यक्षकर उससे वायुका अनुमानही होता है। मानस प्रत्यक्षके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। जिसमें रूप नहीं होता उसका भी मानस प्रत्यक्ष होता है। जैसे मनसे मनुष्य आत्माका प्रत्यक्ष करता है। सभी मनुष्य "मैं सुखी हूँ" अथवा "मैं दुखी हूँ" इस प्रकार प्रत्यक्ष आत्मामें रूप न होनेपर भी करता है। कुछ लोगोंका कहना है कि रूप केवल द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षमें अर्थात् आँखसे होनेवाले प्रत्यक्षात्मक ज्ञानके प्रति ही कारण है, त्वगिन्द्रियसे होनेवाले द्रव्य-प्रत्यक्षके प्रति नहीं। वायुका स्पार्शन अर्थात् त्वक् इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह इसलिए प्रामाणिक नहीं मालूम होता कि "मुझे वायुका स्पर्श हो रहा है" इस प्रकार वाक्यप्रयोगका अर्थ यही हो सकता है कि मुझे वायुगतस्पर्शका साक्षात्कार होरहाहै। क्योंकि स्पर्श तो वायुगत गुण होगा वह मुझे क्या होगा? हाँ उसका प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रियसे हो सकता है। या, स्पर्श अंशमें वायुके विशेषण होनेपरभी उसे दूरसे ही होनेवाले "यह चन्दन सुगन्धयुक्तहै" इस प्रकार अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष-

स्थलके समान वायु-सम्बन्धका अलौकिक भान भी माना जा सकता है। इसी प्रकार "मैं वायुका स्पर्श कर रहा हूँ" इस प्रकार ज्ञानस्थलमें भी समझना चाहिए।

रूपके प्रभेद

रूप सात प्रकार हैं जैसे—उजला, काला, पीला, लाल, हरा, मटमैला और चित्र। इन सात प्रकारके अन्दर उजलेको छोड़कर अन्य सभी प्रकार रूप केवल किसी न किसी पृथिवीके होते हैं। उजलापन पृथिवीके अतिरिक्त जल और तेजमें भी होता है। उजलेको ही शुक्ल शब्दसे भी कहा जाता है। उसके फिर दो प्रभेद होते हैं, भास्वरशुक्ल और अभास्वरशुक्ल। प्रकाशक-शुक्लका नाम है "भास्वरशुक्ल" और अप्रकाशक-शुक्लका "अभास्वर शुक्ल"। भास्वर शुक्ल तेजमें होताहै क्योंकि उससे वस्तुका प्रकाशन होताहै। किन्तु जलमें अभास्वर शुक्ल होताहै क्योंकि उससे समीपवर्त्ती वस्तुको बात क्या, अन्धेरेमें अपना प्रकाशन भी नहीं होता। वायु आकाश आदिमें कोई रूप नहीं है। आकाशकी ओर देखनेपर जो नीलासा दिखाई देता है उसके सम्बन्धमें प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंके दो मत पाये जाते हैं। एक यह कि आँखकी किरणें ऊपर जाती जाती जब और ऊपर नहीं जा सकतीं नीचेको लौटतीं तब उसे ही लोग देखते हैं। आँखकी पुतली काली होनेके कारण किरणें भी काली दिखाई दे सकती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जिनकी आँखकी पुतली काली नहीं पीले रङ्गकी होतीहै वे भी उसी प्रकार ऊपर नील रूप देखते हैं अतएव उक्त-मत ठीक नहीं। किन्तु सुमेरुकी इन्द्र-नीलमणिमय शिखरकी छाया विस्तृत प्रभामण्डल पर पड़तीहै उसे ही लोग आकाशका नील-रूप समझ बैठते हैं। जो भी कुछ हो आकाशमें कोई रूप नहीं

है, यह सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं। आगमें यद्यपि लाल और सोनेमें पीला रूप देखनेमें आता है तथापि उसे औपाधिक समझना चाहिए। अर्थात् वह रूप तत्सम्पृक्त पृथिवीका है जो देखा जाता है। पके जामुन फलके रूपको काला; चम्पा पुष्पके रङ्गको पीला खूब पके हुए टमाटर अथवा बिम्ब फलके रूपको लाल। कच्चे आमके रूपको हरा, बादामके छिलकेके रूपको धूसर कपिश, और विभिन्न रङ्गवाले अवयवोंसे बने हुए द्रव्यके जैसे गलीचे, कारपेट, सतरञ्जी आदिके रूपको चित्र कहा जाता है। यमुना-जल जो काला मालूम पड़ता है उसका कारण यह नहीं है कि उसमें नीलिमा है किन्तु उस जलमें काले पार्थिव-कणकी मात्रा अधिक होनेके कारण। जैसे गेरूके खानसे निकलनेवाला जल लाल मालूम पड़ता है। तत्त्वतः वह जलका अपना रूप नहीं होता। कुछ लोग चित्र नामक स्वतन्त्ररूप नहीं मानते। उनका कहना है कि एक अवयवीके विभिन्न अवयवोंमें जो विभिन्नरूप हैं उन्हें ही लोग चित्ररूप शब्द से पुकारते हैं। तत्त्वतः कोई चित्र नामका रूप नहीं हैं। किन्तु यह इसलिए माननीय नहीं हो-सकता कि यदि अवयवी अर्थात् कम्बल, कार्पेट, सतरञ्जी आदिमें रूप न माना जायगा, उनके अवयवोंमें ही रूप माना जायगा तो कार्पेट सतरञ्जी आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि जिस द्रव्यमें रूप नहीं होता उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि उक्त अवयवीमें ही विभिन्न तत्तत् रूप मान लेंगे, तो यह भी कठिन है। क्योंकि रूप कभी अव्याप्यवृत्ती अर्थात् एक देशमें रहनेवाला नहीं पाया जाता। कहनेका अभिप्राय यह है कि रूपका यह स्वभाव है कि वह जब जहाँ रहेगा अपने पूरे आश्रयमें रहेगा, ऐसा नहीं कि एक ओर रहे और एक ओर नहीं। स्वभाव कभी हटनेवाली वस्तु नहीं होती, अतः एकही आधारमें

तत्तत् रूप रहेंगे भी और न भी रहेंगे यह नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि जैसे मनुष्यको यदि स्थान अधिक मिल जाताहै तो पाँव फैलाकर बैठताहै और कम मिलनेपर सकुचकर भी बैठताहै उसी प्रकार अन्यत्र एक एक रूप पूरे आश्रयको भलेही व्याप्त करके बैठे, किन्तु उक्त-चित्र प्रतीत स्थलमें नानारूप सिकुड़कर एक जगह बैठेंगे, तो यह इसलिए सङ्गत नहीं होगा कि किसी वस्तुका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वतन्त्र-बुद्धिके आधार परही माना जाता है। प्रकृत वस्तुके साथ चक्षुः-सयोग होतेही यह "चित्रवर्ण है" इस प्रकार ज्ञान होताहै। ऐसा नहीं होता कि यह लालभी है और काली भी, इस प्रकार अनेक बुद्धि होतीहै, अतः चित्ररूपको एक स्वतन्त्र माननाही उचित है। और भी एक ध्यान देने योग्य बात यहहै कि जब यह 'चित्र वर्ण नहीं है" इस प्रकार ज्ञान किसीको होता है तो "यह चित्रवर्ण है" इस प्रकार ज्ञान नहीं होता, यह बात सभी लोग जानतेहैं, यह बिना चित्ररूप माने नहीं हो सकता, क्योंकि "यह चित्र नहीं है" इस ज्ञानसे "यह काला है" "यह पीला है" इत्यादि ज्ञान नहीं रोके जा सकते। अतः चित्ररूपको स्वतन्त्र मानानाही उचित है। उक्त सात प्रकार रूपोंको फिर उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत इन तीन भागोंमें विभक्त करना चाहिए। उद्भूत शब्दका अर्थ है प्रकट और अनुद्भूत शब्दका अर्थ है अप्रकट और अभिभूत शब्द-का अर्थ है तिरोहित। यद्यपि अभिभूत भी अप्रकट होताहै तथापि अनुद्भूत वह होगा जो स्वतः अप्रकट होगा और अभि-भूत वह कहलायेगा जो परसम्पर्क-प्रयुक्त अप्रकट होगा। फूल, फल आदि सभी द्रव्यों में देखे जानेवाले नील, पीत आदि रूप होते हैं उद्भूत। आँख कान आदिमें होनेवाले रूप होते हैं अनु-द्भूत। और सुवर्ण आदिके रूप होते हैं अभिभूत। क्योंकि सजा-

तीय किसीके देखनेके कारण न देखा जानाही है अभिभव। पृथिवीके पीत रूप देखे जानेके कारण ही उसके भीतर छिपे हुए तेज-स्वरूप सुवर्णका रूप नहीं देखा जाता। दिनमें सूर्य्यसे अतिरिक्त ग्रह नक्षत्र आदिका रूप भी इसीलिए नहीं देखा जाता कि वह अभिभूत होता। क्योंकि प्रबल सूर्य्यप्रकाशके देखे जानेके कारणही नक्षत्र प्रकाश नहीं देखा जाता।

फलतः रूप एक्कीश प्रकार होते हैं, जैसे, उद्भूतशुक्ल अनुद्भूत-शुक्ल अभिभूत-शुक्ल, उद्भूतनील अनुद्भूतनील अभिभूत-नील इत्यादि। पृथिवीमें भी अग्नि संयोगसे नील पीत आदि विभिन्न रूप क्रमसे उत्पन्न होते हैं। इस तरह रूपका परिवर्त्तन कुछ लोग तो परमाणु मात्रमेंही मानते हैं, द्व्यणुक आदि अवयवीमें नहीं। उनका कहना है कि, अग्निके भीतर घड़े आदिको रखनेपर वेगवान् अग्निके संयोगसे उस घटके सारे परमाणु विशकलित हो जाते हैं, फिर परमाणुओंमें ही पूर्व रूपका नाश होकर नूतनरूप उत्पन्न होता है। कुछ लोगोंका कहनाहै कि अवयवीमें भी अग्निसंगोसे रूप बदलता है। अग्निसंयोगके समान सूर्य्यकिरणके संयोगसे भी रूपकी परावृत्ति होती है। स्थलकमल पुष्पका एक प्रभेद ऐसा पाया जाता है जिसकी कली तो सफेद होती परन्तु सूर्य्यके किरणोंके प्रभावसे वह धीरे धीरे लाल होजाता है। सूर्य्य-किरणका मृदु-प्रभाव इसपर इतना पड़ता है कि घरमें तोड़कर रखनेपर भी धीरे धीरे यह लाल होजाता है। फलोंका रूप परिवर्त्तन तो अति स्पष्ट है। जलीय और तैजस परमाणुओंके रूप नित्य होते हैं और अन्य तदीय रूप अनित्य होते हैं।

———

रस-गुण

जिस गुणका प्रत्यक्ष जिह्वासे होता है वही है रस। जिह्वासे यद्यपि प्रत्यक्ष रसमें रहनेवाली "रसत्व" जातिका भी होता है, क्योंकि जो वस्तु जिस इन्द्रियसे प्रत्यक्ष किया जाता है उसमें रहनेवाली जाति भी उसी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होती। जैसे रूप और उसमें रहनेवाली रूपत्व नामकी जाति ये दोनों ही आँखसे प्रत्यक्ष होते। तथापि रसत्व जाति, गुण नहीं है। गुण तो रूप गन्ध आदि भी हैं, किन्तु वे जिह्वासे प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः जिह्वासे प्रत्यक्ष होनेवाले गुणको रस कहना सर्वथा उचित है। रस पृथिवी और जल इन दो द्रव्योंमेंही रहते हैं। तेज वायु आदि द्रव्योंमें कोई भी रस नहीं है। रसशब्द, इच्छा अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ एवं होता पाया जाताहै किन्तु यहाँ उसे नहीं समझना चाहिए। "इक्षुरस" "गोरस" आदि शब्द यद्यपि द्रव्य अर्थमें भी प्रयुक्त हुए पाये जाते हैं तथापि वहाँके रस-शब्द रसयुक्त द्रव्य अर्थमें गौण रूपसे प्रयुक्त होते हैं। तत्तत् खाद्य पदार्थ जो खाये जानेपर शरीरमें उपकार वा अपकार पहुँचाते हैं उसका प्रधान कारण रसही है।

रसके प्रभेद

रस छः प्रकारके होते हैं। जैसे (१) मधुर (२) अम्ल (३) लवण (४) कटु (५) कषाय और (६) तिक्त। मधुरका मीठा और अम्लका खट्टा, लवणका नमकीन, कटुका कड़वा झाँसदार, कषायका कसैला और तिक्तका तीता अर्थ समझना चाहिए। इक्षु गुड़ द्राक्षा आदिमें मधुर, नींबू आदिमें अम्ल, नोनमें लवण, लाल काली मिरिचमें कटु, हरीतकी आमलकी आदिमें कषाय और कसैला नीम चिरायता आदिमें

तिक्त रस समझना चाहिए। देश भेदसे कुछ लोग लाल काली मिर्च आदिके रसकोही तिक्त (तीता) और नीमके रसको कटु (कड़वा) कहते हैं परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि सरसोंके तेलको "कड़ुआ तेल" प्रायः सभी लोग कहते हैं, किन्तु इसमें नीमके समान रस तो नहीं होता। मिर्चके समान झाँस उसमें अवश्य होती है। संस्कृत-साहित्यमें "तिक्तंकारवेल्लजलम्" अर्थात् करैलेका पानी याने रस तीता होताहै ऐसा प्रयोग पाया जाताहै अतः मानना होगा कि नीमका रस कटु नहीं है किन्तु मिर्चका। पाकसे रसका भी परिवर्त्तन पार्थिव पदार्थमें उसी प्रकार होता है जिस प्रकार रूपका। मधुर आदि रसोंको भी उद्भूत अनुद्भूत और अभिभूत इन तीन भागोंमें विभक्त समझना चाहिए। तदनुसार रसके भी प्रभेद अठारह होंगे। गुड़ आदिके रसको उद्भूत और जिह्वाके रसको अनुद्भूत और नींबू आदिके पानीके रसको अभिभूत समझना चाहिए। अम्लरस पृथिवीमेंही होनेके कारण, मानना ही होगा कि नीबूके निचोड़े जलमें उपलब्ध होनेवाला खट्टापन उसमें मिले हुए पृथिवीकाहै, उससे अभिभूत होनेके कारण जलका रस वहाँ उपलब्ध नहीं होता है। पृथिवी और जल इन दोनोंमेंही रस रहते हैं, जिनमें जलमें केवल मधुर रस माना जाताहै। यद्यपि जलमें मधुर रस यों स्पष्टतः उपलब्ध नहीं होता तथापि किसी कषाय रसवाले आमलकी हरीतकी आदिके खानेके अनन्तर जलका मधुर रस उपलब्ध होताहै। ऐसा होनेका कारण प्राच्यपदार्थ शास्त्रियोंने यह बतलाया है कि जिह्वाके ऊपर एक प्रकार पित्तद्रव्यका ऐसा लेप पड़ा रहताहै कि जलमें अस्पष्टरूपसे विद्यमान मधुररसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। जबकि हरीतकी आदि कषाय रसवाले द्रव्यके संयोगसे वह लेप नष्ट हो जाताहै तो शुद्ध जिह्वासे उस जलके मधुररसका साक्षात्कार हो पाता है।

यदि यह कहा जाय कि जल और मुँहकी गरमीके सम्पर्कसे हरीतकीमें ही मधुर-रसकी सृष्टि क्यों न मानलीजाय तो यह इसलिए उचित नहीं होगा कि जब अन्यदा हरीतकीमें मधुररस उपलब्ध नहीं होता तो वहाँ मधुररस मानकर एक आधारमें दो-प्रकार रस माननेकी अपेक्षा दोमें दो विभिन्न रस मानना अर्थात् हरीतकीमें कषाय और जलमें मधुर मानना ही उचित होगा। कुछ प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंका इस सम्बन्धमें कहना यह है कि किसी चान्दीके पात्रको यदि बहुत ऊपर आकाशमें रखा जाय और उसमें मेघजल गिरे तो उसे पीनेसे उसकी मधुरिमा स्पष्ट प्रतीत होतीहै। कुछ लोग जलको नीरस मानतेहैं उनका कहना है कि जैसे जलका कोई खास आकार नहीं होता, आधारके आकारसे ही वह आकारवान् होताहै, उसी प्रकार जलमें कोई अपना रस नहीं-है, वह जिस रसवालेसे मिलता है उसीके रससे रसवाला हो जाता है। परन्तु यह इसलिए भी समुचित प्रतीत नहीं होताहै कि रस प्रधानपोषक तत्त्व है, वह यदि जलमें न होता तो उससे शरीरका पोषण नहीं होता। तृषाकी शान्ति कभी नहीं हो पाती। अतः जलमें रस मानना ही चाहिए और उसे पूर्वोक्त युक्तियोंके आधारपर मधुरही मानना चाहिए। जिन पत्थर आदि पृथिवीमें रसका सुस्पष्ट भान नहीं होताहै उसमें अनुत्कट रस, अनुत्कट गन्धके समान मानना चाहिए। रसको नित्य एवं अनित्य इन दो भागोंमें विभक्त करना चाहिए। नित्य, जलीय परमाणुमें होतेहैं और अन्यत्र सब जगह अनित्य होते हैं।

गन्ध गुण

जिस गुणका प्रत्यक्ष नाकसे होताहै वह है गन्ध। नाकसे प्रत्यक्ष गन्धत्व जातिका भी होता है किन्तु वह गुण नहीं है।

गुण तो रूप, रस आदि भी हैं, किन्तु उनका नाकसे प्रत्यक्ष नहीं होता। गन्ध केवल पृथिवीमें ही होतीहै, जल तेज आदिमें नहीं। पाकसे अर्थात् तेजके संयोगसे पृथिवीमें रूप रस, आदिके समान गन्धका भी परिवर्त्तन होता है। कोई फल कच्ची अवस्थामें यादृश गन्धवाला होताहै पकनेपर उसका गन्ध उससे अन्य प्रकार हो-जाताहै यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। जहाँ दूरवर्त्ती किसी पुष्प आदिका गन्ध प्रत्यक्ष कीजातीहै वहाँ यह मानाजाता है कि वायुके झकोरसे पुष्प आदि गन्धशील-पार्थिव-द्रव्यके त्र्यणुक उड़कर नाकके पास आतेहैं। नाकके साथ उस रेणुका संयोग होनेपर उसमें हानेवाली गन्धके साथ भी नाकका सम्पर्क हो जाताहै। अतः नाकसे उन गन्धका प्रत्यक्ष होताहै।

गन्धके प्रभेद

गन्ध दो प्रकारकी होतीहै, सुगन्ध और दुर्गन्ध। वाञ्छनीय गन्धका नाम होताहै सुगन्ध और अवाञ्छनीयका दुर्गन्ध। गुलाब आदिमें होनेवाली स्पृहणीय गन्ध कहलातीहै सुगन्ध और किसी सड़ी हुई वस्तुकी या मलमूत्र आदिकी गन्ध होती है दुर्गन्ध। गन्धोंको भी उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत भेदसे विभक्त समझना चाहिए। तदनुसार उद्भूत सुगन्ध, अनुद्भूत सुगन्ध, अभिभूत सुगन्ध इत्यादि भेदसे उसे छः प्रकार समझना चाहिए। यद्यपि प्राच्यपदार्थशास्त्रियोंने इसी प्रकार विभाग बतलाया है परन्तु "सु" और "कु" का सम्पर्ककर जिस किसीका उत्कृष्ट-अपकृष्ट रूपमें भेद किया जाता है उसका एक मध्यवर्त्ती तृतीय प्रभेद भी होता है। जैसे सुरूप और कुरूपके बीच साधारण रूप भी एक प्रभेद होता है। अतः तृतीय प्रभेद भी मानना चाहिए जैसे कच्चे "कटहल" आदिका गन्ध। और इसे भी उद्भूत अनु-

द्भूत आदि तीन प्रभेदोंमें विभक्त करनेपर गन्ध भी नौ प्रकार हो जायगी। वस्तुतः गन्धकी सुगन्ध दुर्गन्ध भेदसे भी तात्त्विक विभाग करना कठिन है क्योंकि जो एक प्राणीके लिए सुगन्ध होती है वही अपरके लिए दुर्गन्ध हो जाती है और जो उसके-लिए दुर्गन्ध होती है वही इसकेलिए सुगन्ध होती है। ऐसी परि-स्थितिसे इस विभागको तात्त्विक नहीं कहा जा सकता। किन्तु सभीकी दृष्टिमें कोई गन्ध वाञ्छनीय और कोई अवाञ्छनीय होती है इसी दृष्टिसे यह सुगन्ध दुर्गन्धरूपसे विभाग किया गया है। यद्यपि वायुका नाम "गन्धवाह" है किन्तु तत्त्वतः उसमें गन्ध नहीं होती अपितु उससे उड़ाये जानेवाले पार्थिव रेणुओंमें सुगन्ध या दुर्गन्ध हुआ करतीहै जिसका घ्राणज प्रत्यक्ष प्राणियोंको हुआ करताहै। फलतः वायुको "गन्धवाह" गन्धगुणयुक्त पार्थि-वद्रव्योंके सम्पर्कसे ही कहा जाताहै। गन्ध नित्य-अनित्यरूपमें विभक्त नहीं की जासकती है। क्योंकि पार्थिव-परमाणुओंमें भी पाकसे उसका परिवर्त्तन होताहै।

स्पर्श गुण

जिस गुणका प्रत्यक्ष केवल त्वक् इन्द्रियसे हो वही है स्पर्श। त्वगिन्द्रियसे स्पर्शत्व जातिका भी प्रत्यक्ष होताहै किन्तु वह गुण नहीं है। गुण तो रूप, रस आदि भी हैं किन्तु वे त्वक् इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होनेवाले नहीं हैं। संयोग विभाग आदि, गुण भी हैं और त्वगिन्द्रिय ग्राह्य भी किन्तु केवल त्वक्से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता-है। क्योंकि जैसे त्वक्से उनका प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्रकार चक्षुसे भी। दो द्रव्योंमें होनेवाले संयोगको जैसे कोई अन्धा टटोलकर समझताहै, आँखवाले उसे देखते भी हैं अतः संयोग विभाग आदिको केवल त्वक्से ग्राह्य, नहीं कहा जा सकता। स्पर्श

पृथिवी जल तेज और वायु इन चार द्रव्योंमें रहता है। आकाश आदिमें यह इसलिए नहीं माना जा सकता कि उसमें स्पर्शका किसीको अनुभव नहीं होता। यह स्पर्श, पार्थिव जलीय आदि परमाणु तकमें रहताहै, किन्तु उसका प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि परमाणु और द्व्यणुकमें महत्त्व नहीं होता। गुणके प्रत्यक्षमें आश्रयभूत द्रव्यमें महत्त्वका होना अपेक्षित है। केवल स्पर्शके लिए ही ऐसी बात नहीं, रूप आदिके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। जो लोग वायुका "स्पार्शन" प्रत्यक्ष मानते हैं उनके मतमें त्वगिन्द्रियसे होनेवाले द्रव्य-प्रत्यक्षमें उद्भूत स्पर्श कारण माना जाता है। अतः वायुमें रूपके न होनेपर भी स्पर्श होनेके कारण उसका त्वगिन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है।

स्पर्शके प्रभेद

स्पर्शको तीन भागोंमें विभक्त समझना चाहिए। जैसे उष्ण-स्पर्श शीतस्पर्श और अनुष्णाशीत स्पर्श। गरमीका नाम है उष्ण-स्पर्श, और ठण्ढकको कहते हैं शीतलस्पर्श अथवा शीतस्पर्श। अनुष्णाशीत वह स्पर्श है जिसे न तो गरम कहा जा सकता है और न ठण्ढा। पृथिवी और वायु इनमें अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। जलमें शीतल और तेजमें उष्ण। चन्द्रमाके किरणोंमें जो शीतल-स्पर्शका भान होता है उसका कारण यह है कि वह मण्डल हिम-बहुल है, अतः जलके शीतल स्पर्शसे चन्द्र स्वरूप तेजका उष्ण-स्पर्श अभिभूत होता है। सुवर्णमें पार्थिव स्पर्शसे तेजका स्पर्श अभिभूत हो जानेके कारणही उष्णस्पर्शका भान नहीं होता। जलमें जो उष्णस्पर्शका भान होता है वह तेजके संयोगसे ही होता है, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। वायुमें जो ठण्ढक अथवा गरमी मालूम होती है वह भी जल और तेजके सम्पर्क

होनेपर ही होती है। स्पर्शको पाकज और अपाकज इन दो भेदों-में विभक्त किया जा सकता है। पाकज वह है जो अग्नि अथवा सूर्य्य आदिके संयोगसे उत्पन्न होता है। और अपाकज वह है जो उक्त प्रकारके तेजके संयोगके विना होता है। जैसे अग्निमें पकानेपर जो घड़ेका स्पर्श होता है वह होताहै "पाकज" और विना पकाये घड़ेमें जो होता है वह होताहै अपाकज। कपड़े आदिमें सर्वथा अपाकज ही होता है। इसी तरह कठिन स्पर्श और मृदुस्पर्श अर्थात् कोमल स्पर्श और अकठिन-कोमल स्पर्श इन तीन भागोंमें भी विभक्त किया जा सकता है। कठिन और कोमलस्पर्श ये दोनों पृथिवीमात्रमें होते हैं और तृतीय प्रकार जल तेज और वायुमें। पत्थर आदिका स्पर्श कठिन और धनी हुई रूई आदिका स्पर्श होता है कोमल।

कुछ लोग कठिनता और कोमलताको स्पर्शगत धर्म्म अर्थात् स्वभाव न मानकर संयोगगत धर्म्म मानते हैं। अर्थात् उनका कहना है कि कठिन-संयोग और कोमल-संयोग इस प्रकार प्रभेद संयोगके हुआ करते हैं, स्पर्शके नहीं। किन्तु यह बात उचित इस लिए प्रतीत नहीं होती कि संयोग यदि कठिन और कोमल हुआ करे तो छूनेके विना भी केवल आँखसे कठिनता और कोमलताका प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। लोई, या कम्बलमें कितनी कोमलता है इसका परिचय लोग उसमें हाथ लगाकरके ही करते हैं, दूरसे नहीं। यदि संयोगगत वे धर्म्म हों, तो उसे आँखसे समझना चाहिए क्योंकि संयोग आँखसे देखा ही जाताहै। स्पर्शको रूप रस आदिके समान नित्य और अनित्य इन दो भेदोंमें भी विभक्त समझना चाहिये। जल, तेज और वायुके परमाणुओंमें रहने वाले स्पर्शको नित्य, और समस्त पृथिवी तथा जन्य जल तेज और वायुमें उसे अनित्य समझना चाहिए।

संख्या गुण

"यह एक है, ये दो हैं, ये तीन हैं" इस प्रकार जो ज्ञान होते हैं, एवं वाक्य-प्रयोग होते हैं, वे जिस गुणके आधार पर होते हैं, उस गुणका नाम है संख्या। अर्थात् जिस गुणके आधार पर किसी भी द्रव्यको गिना जा सके, उस गणका नाम है संख्या। यह संख्या पृथिवीसे लेकर मनतक सबमें रहती है। यद्यपि "एक रूप" "दो रस" इस तरह ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग होताहै जिसके आधारपर मालूम यह होताहै कि संख्या केवल द्रव्यमें रहनेवाला गुण नहींहै किन्तु वह द्रव्यसे लेकर अभावतकमें रहनेवाली स्वतन्त्र वस्तु अर्थात् पदार्थहै। तथापि प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने उसे द्रव्यमात्रका गुण इसलिए मानाहै कि यदि उक्तज्ञान या वाक्य-प्रयागके आधारपर संख्याका आठवाँ पदार्थ माना जाय तो फिर पदार्थ-सख्या असीम माननी पड़ेगी, क्योंकि सख्याको आठवाँ पदार्थ तब कहाजायगा जब कि संख्याको भी सातसे अधिक एक पदार्थ मानाजायगा। और एसा माननेपर संख्यास्वरूप आधार और उसमें रहनेवाली एकत्वनामको संख्याको दो पदार्थ माननाहोगा। क्योंकि आधार और आधेय एक नहीं होसकते, फिर पदाथ नौ होजायेंगे। इसतरह संख्या बढ़ती जायगी। अनवस्था होजायगी। अतः संख्याको अतिरिक्त पदार्थ न मानकर द्रव्यमात्रमें रहनेवाला एक गुणस्वरूप मानलेना चाहिए। रही बात यह कि गुण आदि पदार्थोंमें संख्याका व्यवहार कैसे होताहै? इसका उत्तर यहहैकि द्रव्यमेंही अन्य गुण क्रिया आदि पदार्थभी रहतेहैं और संख्याभी रहतीहै अतः एक जगह दोनोंके रहनेके कारण संख्याका भान उन गुण आदि पदार्थोंमें होजाया करताहै। उदाहरण जैसे किसी फूलमें एकत्व

संख्याभी रहतीहै और उसी फूलमें रूप, रस आदि गुणभी रहतेहैं अतः पुष्पगत एकत्वका भान रूप रस आदिमें होजानेके कारण "यह एक रूपहै" "यह एक रसहै" इत्यादि वाक्य-प्रयोग होनेमें कोई बाधा नहीं होती। यहाँ एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता-है कि फिर संख्यामें भी रूप, रस आदिका ज्ञान एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोग क्यों नहीं होता? अर्थात् "एक रूप एक रस" इस प्रकार वाक्य-प्रयोगके समान "एकत्वका रूप एकत्वका रस" इस तरह वाक्य-प्रयोग क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि "सामानाधिकरण्य" अर्थात् दोनोंका एकमें होना समान होनेपरभी संख्यामें रहने वाले रूप, रस आदिके "सामानाधिकरण्यको प्रतीति-नियामक एवं प्रयोग-नियामक सम्बन्ध नहीं मानाजायगा। क्योंकि कल्पना फलके अनुसार ही हुआकरतीहै "एक रूप, एक रस" इस तरह भान एवं वाक्य-प्रयोग वहाँपर होते चलेआरहेहैं, किन्तु "संख्याका रूप एकत्वका रस" इसप्रकार भान या वाक्य-प्रयोग नहीं होतेहैं अतः सम्बन्धकी कल्पना भी तदनुसारही होगी। यद्यपि "चौबीस गुणहैं" "पाँच कर्महैं" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोगमें फिर भी कठिनाईहै क्योंकि नौ द्रव्योंमें जो चौबीस गुण रहतेहैं उन गुणों-में यदि द्रव्य-गत संख्याको लेकर संख्याका भान या वाक्य-प्रयोग करेंगे तो गुणोंको भी नौ ही कहना चाहिए। क्योंकि द्रव्य तो नौ हैं, चौबीस नहीं। यदि यह कहा जाय कि अवान्तर प्रकारके अनुसार द्रव्य नौसे अधिक होजायेंगे तो फिर भी गुणको चौबीस कहना कठिन हो जायगा। क्योंकि फिर तो द्रव्य असंख्य होंगे और उनमें रहनेवाले गुणोंमें असंख्यताका ही भान एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोग उचित होगा, तथापि असंख्य द्रव्योंको रूप आदि गुणयुक्त होनेके आधारपर वर्गीकरण करनेपर उनकी

संख्या चौबीस होसकेगी और उस संख्याको लेकर गुणको भी चौबीस कहा जासकेगा, यही उक्त गुण-विभाजनका अभिप्राय है, ऐसा अगत्या समझना चाहिए। कुछ लोगोंका कहना यह है कि गुण आदिमें जिस संख्याका भान या वाक्य-प्रयोग होताहै वह तत्त्वतः गुणरूप संख्या नहींहै किन्तु "अपेक्षाबुद्धिविषयता" अर्थात् "यह एकहै यह एकहै" इसप्रकार होनेवाली अपेक्षाबुद्धि नामक ज्ञानकी विषयताहै। परन्तु यह इसलिए कहना कठिनहै कि गुण आदिमें "यह एकहै यह एकहै" इसप्रकार ज्ञानही पहले कैसे होगा? यदि भ्रमकरके उसमें विषयता लायी जाय, तो सभी को भ्रान्त माननाहोगा, क्योंकि प्रयोग सभी करतेहैं। और फिर तो संख्याकाही भान एवं प्रयोग क्यों न गौणरूपमें मानलिया जाय, व्यर्थ उक्त विषयतास्वरूप संख्या माननेका प्रयोजन क्या? नहीं तो उसके बारेमें भी तो प्रश्न उठेगा कि वह क्या वस्तुहै। कुछलोग "स्वरूप" नामक खास सम्बन्धसे संख्याका अस्तित्व सभी पदार्थमें मानतेहैं और उसीके आधारपर उक्त प्रयोगका सम्पादन करतेहैं।

—:o:—

संख्या के प्रभेद

यों तो संख्यामें संख्या न होनेके कारण संख्याका प्रभेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रभेद संख्याके आधारपरही होसकता एवं कहा जासकता, तथापि उक्त रीतिसे गौणभावेन संख्यामें भी संख्या रहसकतीहै, अतः प्रभेद भी कथञ्चित् कहा जासकताहै। प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंका कहनाहै कि एकत्व द्वित्वसे लेकर परार्धपर्य्यन्त संख्या होतीहै, अतः फलतः संख्याको भी परार्ध-संख्यक समझना चाहिये। कुछलोगोंका कहनाहै कि

एककोही द्विगुणित करने पर दो होते हैं और इस प्रकार दशगुणित करनेपर दशत्व होजाताहै। दशत्वमें वैलक्षण्य स्फुट होजाताहै अतः दशत्व स्वतन्त्र संख्याहै। इसीप्रकार दशको दशगुणित करदेनेपर "शतत्व" नामकी स्वतन्त्र संख्या होतीहै। बीचकी संख्याएँ स्वतन्त्र नहींहैं, अतः एकत्व, दशत्व, शतत्व, सहस्रत्व, अयुतत्व, लक्षत्व, नियुतत्व, कोटित्व, अर्बुदत्व, वृन्दत्व, खर्वत्व, निखर्वत्व, शङ्कुत्व, पद्मत्व, सागरत्व, अन्त्यत्व, मध्यत्व, और परार्धत्व इसतरह अठारह प्रभेद समझना चाहिये। परन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि जब कि "ये दोहैं, ये तीनहैं" इहप्रकार द्वित्व त्रित्व आदि विषयक ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग उसीप्रकार होताहै जिसप्रकार "ये दश हैं" यह ज्ञान या वाक्य-प्रयोग होताहै, फिर क्या कारण बतलाया जासकता कि दशत्व तो स्वतन्त्र संख्या है और द्वित्व आदि स्वतन्त्र संख्या नहीं? कुछलोगोंका कहनाहै कि संख्या केवल नौ हैं यही कारणहै कि "अङ्क" शब्दसे नौ संख्याका ही बोध हुआ करता है। किन्तु यह भी उचित इसलिए प्रतीत नहीं होता कि दश, ग्यारह आदि कहने से तुरत तत्संख्यक द्रव्यको श्रोता समझ जाताहै। नौ और एक, नौ और दो, इसप्रकार ज्ञान, कोई प्रबुद्ध नहीं करता। कुछलोगोंका कहनाहै कि संख्या का कोई प्रभेद ही नहीं है, वह केवल एकत्वरूपही है। द्वित्वका अर्थ होताहै दो एकत्व, इसीप्रकार त्रित्व चतुष्ट्वआदि परार्द्धत्व पर्य्यन्त समझना चाहिये। किन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि "ये दो हैं" ऐसा कहनेसे दोनोंही द्रव्योंमें एक दण्डायमान द्वित्व प्रतीत होताहै। यदि दो एकत्वही द्वित्व हो तो वह अलग-अलग एकमें ही प्रतीत होसकेगा, मिलितमें

नहीं, अतः दोनों आश्रयोंमें अनुगत होकर रहनेवाला द्वित्व माननना चाहिये। इसीप्रकार त्रित्व चतुष्ट्व आदिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। हाँ, एकबात जरूर है कि जबतक द्रष्टाको दोनों आश्रयोंमें प्रत्येक करके "यह एक है" और "यह एक है" इसप्रकार एकत्वका "अपेक्षाबुद्धि" नामक ज्ञान नहीं होलेता, तबतक उन दो आश्रयोंमें द्वित्व संख्याकी उत्पत्ति नहीं होती। इसीप्रकार त्रित्वआदि स्थलमें भी। यह इसलिए कि और व्यक्तिकी तो बात क्या? जो पहले उक्त अपेक्षाबुद्धिके सहारे दो वस्तुओंको "ये दो हैं" इसप्रकार देखभी रखा है वह भी फिर तबतक उन्हें दो नहीं समझता है जबतक दोनोंको एक-एक करके फिर देख नहीं लेता। अतः अपेक्षाबुद्धि, द्वित्व आदि संख्याओंकी उत्पत्तिमें कारण है और उसके नष्ट होनेपर द्वित्व आदिका भी नाश होजाता है। यदि फिर उनमें द्वित्वकी उत्पत्तिकर "ये दो हैं" इसप्रकार समझना हो तो अपेक्षाबुद्धि करनी चाहिए, तब द्वित्व उत्पन्न होगा। यही प्रक्रिया त्रित्व, चतुष्ट्वसे लेकर परार्द्धत्व पर्य्यन्तके लिए समझनी चाहिये। कुछलोगोंका कहना है कि पर-पर संख्याकी उत्पत्तिमें पूर्व-पूर्व संख्याभी कारण है। जैसे त्रित्वकी उत्पत्ति तब होगी जबकि पहले द्वित्वकी उत्पत्ति होलेगी। इसीप्रकार आगे-आगे भी। इसका अभिप्राय यह है कि "दो एक तीन" और "तीन एक चार" इसप्रकार परवर्त्ती संख्याओंका ज्ञान होता है अतः अव्यवहितपूर्ववर्त्ती संख्याको भी परवर्त्ती संख्याकी उत्पत्तिका कारण मानना चाहिए। परन्तु ऐसा होनेपर अपेक्षाबुद्धिके आकारमें सब जगह भेद मानना पड़ेगा। जैसे द्वित्वकी उत्पत्तिके लिए "यह एक है और यह एक है" इसप्रकार और त्रित्वके उत्पत्तिस्थलमें "ये दो हैं और यह एक है" इसप्रकार विलक्षण-विलक्षण आकारक ज्ञानको

कारण और उसके नाशसे द्वित्वआदिका नाश मानना होगा। अपेक्षाबुद्धिकी अनुगत व्याख्या कठिन होजायगी, फिर उसे कैसे कारण माना जासकेगा ?

कुछलोग उक्त संख्याओंसे अतिरिक्त बहुत्व नामकी संख्या मानते हैं। उनका कहनाहै कि जहाँ कोईभी वस्तु अधिक संख्या में एकत्रहुई होतीहैं वहाँ "ये बहुत हैं" इसप्रकार बहुत्व नामक संख्याको विषय करनेवाली प्रतीति होतीहै, एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोग भी होताहै। अतः मानना होगा कि बहुत्व नामकी कोई संख्या अतिरिक्त है। अतिरिक्त इसलिए कि तादृशस्थलमें शतत्व, सहस्रत्व आदिकी प्रतीति न होनेपर भी बहुत्वकी प्रतीति होती-है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि बहुत्वभी संख्या तो है किन्तु अतिरक्त नहीं। अर्थात् त्रित्वसे लेकर परार्द्धत्व पर्य्यन्त संख्याएँ सभी बहुत्वरूपहैं। इसीलिए संस्कृत-वैयाकरण भी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीनही वचन मानतेहैं। अर्थात् तीनसे लेकर जितने भी ज्ञातव्य किंवा वक्तव्य वस्तुएँ होंगी उन्हें "बहुत" इसप्रकार समझतेहैं एवं बोलते भीहैं। और इस सम्बन्धमें प्रबल युक्ति यहहै कि बहुतोंमें भी अपेक्षाकृत उत्कर्षापकर्ष बतलानेके लिए "बहु" "बहुतर" "बहुतम" इसप्रकार वाक्य-प्रयोग पाये जातेहैं। स्वतन्त्र संख्याओंमें यह बात नहीं होती। कभी कोई त्रि, त्रितर, त्रितम, ऐसा वाक्य-प्रयोग नहीं करताहै, उसी-प्रकार यदि बहुत्वभी स्वतन्त्र संख्या होती, तो "तर" और "तम" लगाकर बहुत्वगत उत्कर्षापकर्ष नहीं बतलाया जासकता। किन्तु संस्कृतमें ही नहीं, हिन्दीमें भी बहुत और बहुतेरे इसप्रकार तारतम्यबोधक प्रयोग होतेहैं अतः माननाही होगा कि बहुत्व कोई स्वतन्त्र संख्या नहीं है। किन्तु त्रित्वसे लेकर परार्द्धत्व

पर्य्यन्त संख्यारूपही वह है। अतः एक सौ को यदि बहुत कहेंगे तो उससे अधिक होनेवालेको बहुतर कह सकेंगे।

कुछलोग केवल एकत्व मात्रही संख्या मानतेहैं। उनका कहना है कि दो एकत्वकाही नाम द्वित्व और तीन एकत्वका ही नाम त्रित्व होताहै। इसीप्रकार आगे भी। परन्तु यह उचित इसलिए नहीं कि एक-एक समझने के अनन्तर जबकि "ये दो हैं" इसप्रकार स्वतन्त्रबुद्धि होतीहै, व्यवहार होताहै फिर उसद्वित्वको कैसे स्वतन्त्र संख्या न मानेगें? दूसरी बात यहभी है कि द्वित्व आदि यदि स्वतन्त्र संख्याएँ नहीं तो "दो एकत्व" ही कैसे कहा जासकेगा? गौणप्रयोग कहीं मुख्य प्रयोगके विना नहीं होसकता।

परिमाण गुण

"यह इतना है" "यह इतना बड़ा है" "यह इतना छोटा है" इसप्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुणके अधारपर हो उस गुणका नामहै परिमाण। सारकथा यहहै कि इयत्ता अर्थात् "इतनापन" का ही नामहै परिमाणं। "पाँच हाथके कपड़े, दश हाथके कपड़े" इत्यादि ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोगस्थलमें "पाँच हाथ, दश हाथ" इसके द्वारा परिमाण समझा जाताहै। यह परिमाणभी पृथिवीसे लेकर मन पर्य्यन्त नौ प्रकारके द्रव्योंमें रहताहै। क्योंकि कोई न कोई परिमाण सब द्रव्योंमें पाया जाताहै। परिमाणमें यह एक विशेषता है कि इसका नाश तबतक नहीं होता जबतक आश्रय-द्रव्य नष्ट नहीं हो जाताहै। जैसे घड़ा जबतक रहेगा तबतक उसका परिमाण भी उसमें बनाही रहेगा, बदलेगा नहीं। यदि घड़ेसे किसीभी प्रकार कुछ रेणुओंको अलग करदियाजाय तो माननाहोगा कि वह घड़ा अब नहीं रहगया जो कि पहले था। अतः उसके परिमाण बदलनेपर भी उक्त नियममें कोई बाधा नहीं।

यदि यह कहाजाय कि जहाँ पहले एक महलका घर था, कुछ रोज़ बाद दूसरे महलका निम्मीण हुआ वहाँ पूर्वघरके रहते हुएही परिमाण कैसे बदल जाता ? वह घर बड़ा और ऊँचा कैसे होजाताहै ? इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि अब यह वह मकान नहीं है जिसका परिमाण बढ़ाहै, यह तो उससे दूसरा होगयाहै इसी-लिए परिमाणभी बदलना स्वाभाविकहै। यह पहला घर इस बड़े घरका एक अवयव बनगया, जिसमें अन्य ईंटें आदि अवयवोंको जोड़कर यह अन्य अवयवी निर्म्मित हुआहै। इसके परिमाणको उसका परिमाण नहीं कहा जासकता, क्योंकि यह परिमाण उस परिमाणका कार्य्य होताहै। कार्य्य और कारणको एक नहीं कहा जासकता। जहाँ छोटे पटमें और तन्तु जोड़कर पूर्वापेक्षया बड़ा पट बनता है वहाँ तो पूर्ववर्त्ती छोटे पटके रहते हुए ही पटका परिमाण बदल जाताहै, वह बड़ा होजाताहै, फिर कैसे यह माना जाय कि पूर्वद्रव्यका नाश और द्रव्यान्तरके उत्पाद हुए विना परिमाण नहीं बदलताहै ? इस प्रश्नके उत्तरमें प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने इस-प्रकार उत्तर दियाहै कि अधिक तन्तु जोड़कर पट-निर्माण करनेके समय, तन्तुओंको बैठानेके लिए "वेमा"से आघात कियाही जायगा उससे पूर्ववर्त्ती पटके अवयवभूत तन्तुओंमें क्रिया अवश्य होगी, फिरतो विभाग और पूर्वसंयोगका नाश उन तन्तुओंमें माननाही पड़ेगा। और जबकि संयोगका नाश होगा तो उस असमवायिकार-णके नाशसे पूर्वपटका नाश मानना पड़ेगा। अतः वहाँभी पूर्वपट-का नाश और पटान्तरका उत्पाद होकरही उस परवर्त्ती-पटमें पूर्वपटके परिमाणसे अन्य परिमाण होताहै, ऐसा मानना चाहिए। किन्तु यह उत्तर सब जगह लागू नहीं होसकेगा, जैसे, पहले दिये हुए मकानरूप दृष्टान्तस्थलमें; क्योंकि वहाँ पूर्ववर्त्ती-मकानके अव-

यवोंमें क्रियाका उत्पाद न होते हुए भी आगन्तुक अवयवके साथ "नोदन" नामक संयोग होकर बड़े मकान बनसकते हैं, अभिघातकी अपेक्षा नहीं होगी, अतः तादृश परिस्थितिमें पूर्वोक्त समाधानही अवलम्बनीय होगा।

परिमाण के प्रभेद

प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने परिमाणके चार प्रभेद बतलाये हैं। यथा (१) अणुत्व (२) दीर्घत्व (३) महत्त्व और (४) ह्रस्वत्व। इनमें अणुत्व और महत्त्व एवं ह्रस्वत्व और दीर्घत्व परस्पर विरोधी होते हैं। अणुत्व के दो भेद हैं, परमाणुत्व और मध्यमाणुत्व। परमाणुत्व उस द्रव्य में माना जाता है जो कि निरवयव होनेकेकारण सर्वथा अविभाज्य होताहै। जिसकी निरवयवता और नित्यता आदि द्रव्यग्रन्थमें पृथिवी के विचारस्थलपर विचारित हो चुकी है। मध्यमाणुत्व दो परमाणुओंके संयोगसे बनेहुए द्रव्यों में होता है। त्र्यणुक चतुरणुक आदिमें अणुत्व तत्त्वतः नहीं रहताहै। वहाँ पञ्चाणुककी अपेक्षासे चतुरणुकको और चतुरणुककी अपेक्षासे जो त्र्यणुकको अणु कहा जाताहै, सो औपचारिक रूपमें अपकृष्ट-महत्त्वकोही अणुत्व कह दिया जाताहै। इसीप्रकार अन्यत्रभी समझना चाहिए। महत्त्व भी दोप्रकार होते हैं। परम-महत्त्व और मध्यम-महत्त्व। परम-महत्त्व आकाश, काल, दिक्, और आत्माओंमें रहाकरताहै। और मध्यम-महत्त्व अर्थात् अपकृष्ट महत्त्व महापृथिवी आदिसे लेकर त्र्यणुक तकमें रहताहै। ह्रस्वत्वभी उत्कृष्ट और अपकृष्ट भेदसे दो प्रकार हैं। उत्कृष्ट ह्रस्वत्व वहाँ ही रहताहै जहाँ परमाणुत्व रहता है अर्थात् उत्कृष्टह्रस्वभी परमाणु ही हुआ करताहै। अपकृष्ट ह्रस्वत्व द्व्यणुकमें रहताहै, जहाँ अपकृष्ट अणुत्व रहता

है। दीर्घत्वभी उत्कृष्ट और अपकृष्ट भेदसे दो प्रकार है। उत्कृष्टतो परम-महत्त्वके साथ रहताहै और अपकृष्ट अपकृष्ट- महत्त्वके साथ। कुछलोगोंका कहनाहै कि जब ह्रस्वत्व और अणुत्व समान अधिकरणमें ही रहतेहैं एवं दीर्घत्व और महत्त्वभी समान अधिकरणमें ही रहते हैं, तब चार परिमाण माननेका प्रयोजन क्या? दो ही परिमाण मानने चाहिये, जैसे कि अणुत्व और महत्त्व। अथवा दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। परन्तु यह इसलिए माननीय नहीं कि महत्त्वहै प्रत्यक्षके प्रति कारण, किन्तु दीर्घत्व प्रत्यक्षके प्रति कारण नहीं, क्योंकि अतिदीर्घ होनेपरभी कुछ दूरसे "लूतातन्तु" नहीं देखा जासकताहै। किन्तु तादृश-महत्त्व न होनेपर भी एक मटर आदि देखा जासकताहै, अतः समानाधिकरण होनेपर भी महत्त्व और दीर्घत्वमें कुछ विलक्षणता भी है, ऐसा माननाहोगा। महत्त्व और दीर्घत्वमें यह अन्तर होनेपर भी अणुत्व और ह्रस्वत्वको अलग परिमाण क्यों माना जाय? सुतरां तीनही परिमाण मानने चाहिये, यह कथन भी इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि महत्त्व माननेपर जैसे उसका विपरीत अणुत्व मानाजाताहै उसीप्रकार जब दीर्घत्व स्वतन्त्र परिमाण होगा तो उसके विपरीत ह्रस्वत्व भी मानना ही होगा। परिमाणकी उत्पत्ति, संख्या और परिमाण तथा प्रचय इन विभिन्न कारणोंसे विभिन्नस्थानमें होतोहै। द्व्यणुकगत अणुत्व परमाणुगत द्वित्वसंख्यासे और त्र्यणुकगत महत्त्व द्व्यणुकगत त्रित्व संख्यासे उत्पन्न होताहै। कपालपरिमाणसे घटमें परिमाण उत्पन्न होताहै। और रूईको धुननेपर जो उसमें महत्त्व उत्पन्न होता है वह प्रचयजन्य होताहै। त्र्यणुकगत महत्त्वको द्व्यणुकपरिमाणसे जन्य माननेपर वह महत्त्व न होकर "अणुतरत्व" होजायगा। अर्थात् त्र्यणुक महान् न होकर "अणु-

तर" होजायगा । क्योंकि परिमाणजन्य परिमाण कारणका सजातीयही हुआकरताहै । कपाल यदि दीर्घ होतेहैं, तो घट दीर्घतर होताहै । फलतः द्व्यणुक जबकि अणुहैं तो त्र्यणुक अणुतर होजायगा । महत्त्व, अणुत्वसजातीय उत्कृष्ट परिमाण नहींहै । और यदि त्र्यणुक महान् नहीं होगा तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होसकेगा, अतः मानना पड़ताहै कि त्र्यणुकका परिमाण परिमाणजन्य नहींहै किन्तु संख्याजन्यहै, अर्थात् यतः तीन द्व्यणुकोंसे त्र्यणुक बनताहै अतः वह महान् होताहै । द्व्यणुकगत त्रित्व-संख्या त्र्यणुकगत महत्त्वको पैदा करतीहै । घट, पट आदिके परिमाणोंमें यह बात नहींहै । वहाँ कपाल, तन्तु आदिके परिमाणोंके अनुरूप घट आदिमें परिमाण उत्पन्न होताहै, यह सर्वप्रत्यक्ष-सिद्धहै "शिथिल" संयोगका अपर नामहै "प्रचय" उससे धुनी रुईमें परिमाणकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष-सिद्धहै । पहले उस तूल-पिण्डकी इयत्ता जैसी होती, उससे अतिविलक्षण इयत्ता धुननेपर दृष्टिगोचर होतीहै, अतः वहाँपर प्रचयको परिमाणका उत्पादक मानना आवश्यकहै ।

पृथक्त्व

"घट, पटसे पृथक् है," "मनुष्य मकानसे पृथक् है"इसप्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुणके आधार पर होतेहैं उसीका नामहै पृथक्त्व । कुछलोगोंका कहनाहैकि पृथक्त्व कोई स्वतन्त्र गुण नहींहै, वह विभागहीहै । किन्तु यह इसलिए सङ्गत नहीं कहा जासकता कि विभाग नियमतः संयोगपूर्वक हुआकरताहै किन्तु पृथक्त्वमें यहबात नहींहै, वह उन दो पदार्थोंमें भी रह सकताहै जो दोनों कभी संयुक्त नहीं हुएहैं । उदाहरण, जैसे, सूर्य्यसे चन्द्रमाको एवं चन्द्रमासे सूर्य्यको पृथक् कहा जासकता, किन्तु विभक्त

नहीं कहा जासता, क्योंकि ये दोनों कभी संयुक्त नहीं थे, जो कि आज विभक्त होंगे या "विभक्त" कहेजायेंगे। अतः पृथक्त्वको संयोगाभाव भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि संयोगाभावका अर्थ यदि संयोगका ध्वंस हो तो वही दोष रहजायगा जो कि विभाग रूप माननेमें दिया गयाहै। विभागके समान संयोगका ध्वंस भी विनासंयोगका नहीं होसकता। यदि संयोगात्यन्ताभाव रूप उसे मानाजाय तो "घटका रूप घटसे पृथक्है" यह भी ज्ञान एवं एतादृश वाक्य-प्रयोग होने लगेगा, जो उचित नहीं। संयोग अवयवावयविभावरहित अनेक द्रव्योंको ही होसकता है। रूप और घटका संयोग नहीं हो सक्ता, सुतरां संयोगाभाव रहजायगा। कुछ लोगोंका मतहै कि पृथक्त्वको भेदस्वरूप अर्थात् अन्योन्याभावरूप मानलेना चाहिए अधिक गुणस्वरूप नहीं। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कहा जासकता कि "घड़ेका रूप घड़ा नहीं है किन्तु उससे अन्य है" ऐसा ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग होता है किन्तु "घड़ेका रूप घड़ेसे पृथक् है" ऐसा ज्ञान किंवा वाक्य-प्रयोग नहीं होता। दोनोंको एक माननेपर दोनो ज्ञान एवं दोनोंही प्रकार वाक्य-प्रयोग अनिवार्य्य होजायेंगे। अतः पृथक्त्व एक स्वतन्त्र गुणहै यह मानना ही होगा।

पृथक्त्वके प्रभेद

पृथक्त्वके भी प्रकार उतने ही होतेहैं, जितने संख्याके प्रकार-होतेहैं। अर्थात् जैसे एकत्वसे लेकर परार्द्धपर्य्यन्त संख्याके प्रभेद होतेहैं, उसीप्रकार एकपृथक्त्वसे लेकर परार्द्धपृथक्त्व तक पृथक्त्वके प्रभेद होतेहैं। एकत्व जिसप्रकार नित्य और अनित्य दो तरहके होतेहैं, एक पृथक्त्वभी उसीप्रकार आकाश आदि नित्यगत होनेसे नित्य, और घटआदि-अनित्यगत होनेपर अनित्य होतेहैं।

द्विः पृथक्त्व, त्रिःपृथक्त्व आदि द्वित्व, त्रित्व आदिके समान सभी अनित्य होतेहैं । दो पदार्थोंमें जो अन्यकी अपेक्षासे पृथक्त्व रहताहै उसका नामहै द्विःपृथक्त्व और तीनमें रहनेवाले पृथक्त्वका नाम होताहै त्रिःपृथक्त्व । इसीप्रकार परार्द्ध पर्य्यन्त समझना चाहिए । यदि कहाजाय कि एकपृथक्त्वको ही पृथक्त्व मानाजाय वही जब द्वित्वका समानाधिकरण होजायगा तो उसका नाम द्विःपृथक्त्व होजायगा । इसीतरह त्रिःपृथक्त्व आदि स्थलमें भी समझना चाहिए । परन्तु यह इसलिए नहीं होसकता कि एकपृथक्त्व द्वित्वआदिका समानाधिकरण होही नहीं सकता । क्योंकि द्वित्व दोमेंही रहेगा और एकपृथक्त्व दोके अन्दर एक-एकमें रहेगा । यदि यह कहाजाय कि पृथक्त्वका प्रभेद माननाही नहीं चाहिये, वह अखण्डहै । वह जब एकमें प्रतीतहोगा तो एक-पृथक्त्वरूपसे औरदो में प्रतीत होगा तो द्विःपृथक्त्व रूपसे । इसी प्रकार अन्यत्रभी, तो फिर इसे संयोग, विभाग आदिके समान अभिनवोत्पन्न मानना होगा । अर्थात् नित्य द्रव्योंमें भी अवस्थित नहीं माना जासकेगा । परन्तु यह अनुभव-विरुद्ध होगा कि परमाणुरहेगा किन्तु उसमें एकपृथक्त्व, नहीं रहेगा । अतः संख्याके समान एक पृथक्त्व द्विःपृथक्त्व आदि प्रभेद स्वीकरणीयही होगा ।

संयोग गुण

जन्यद्रव्यके प्रति फलाऽयोगरहित कारणका नामहै संयोग । तन्तुओंके संयोगसे पट, कपालोंके संयोगसे घट, बनताहै, यह प्रत्यक्षसिद्ध है । तन्तुसंयोग होनेपर पटकी उत्पत्तिको कोई रोक नहीं सकता । कपालोंका संयोग होनेपर घटोत्पत्तिको रोक नहीं सकता, अतः संयोग तत्तत् द्रव्यके प्रति फलाऽयोगरहित कारण होताहै ।

अर्थात् अवयवोंका संयोग होनेके अनन्तर कार्य्यका अयोग हो नहीं सकता, अतः वह फलायोगरहित कारण होताहै। यद्यपि ऐसे भी बहुत संयोगहैं जिनसे द्रव्योत्पत्ति नहीं होती फिर भी उन संयोगोंकेसाथ "एकजातीयता" उनमें भी है जो द्रव्योत्पादक होतेहैं। अथवा "ये दोनों संयुक्त हैं" इसप्रकार ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग जिस गुणके सहारे हो वहीहै संयोग। संयोगगुण यदि न होता तो संसारकी रचना ही नहीं होपाती। क्योंकि जबतक दो परमाणुओंमें परस्पर संयोग न होता तबतक द्व्यणुक ही न बन पाता, फिर त्र्यणुक, चतुरणुक आदि क्रमसे महापृथिवी, जल आदिकी सृष्टि कैसे होपाती? जितने भी पुरातन कालसे लेकर आधुनिक कालतक नव-नव द्रव्योंके आविष्कार हुए या होरहे हैं किंवा भविष्यमें होनेवालेहैं, सभीको संयोगसापेक्ष माननाहो पड़ेगा। अतः यह महान्स्थिर सत्यहै कि संयोग एक अति महत्त्वपूर्ण गुण है। संयोगगुण अव्याप्यवृत्ती होता है। अर्थात् जिस अधिकरणमें संयोग रहताहै उस अधिकरणमें भी उसका अभाव रहताहै। जैसे वृक्षमें ही शाखादेशको लेकर कपिसंयोग रहताहै, और मूलदेशको लेकर उसमें कपिसंयोगका अभाव रहताहै, कहनेका अभिप्राय यह कि संयोग कभी पूरे आश्रयको व्याप्त नहीं कर पाताहै। कुछलोग संयोगको व्याप्यवृत्तो मानते। उनका कहनाहै कि संयोग अवयवगत ही होता अवयबिगत नहीं, अतः वह अव्याप्यवृत्ती क्यों होगा?

संयोगके प्रभेद

संयोगको प्रथमतः तीन भागोंमें विभक्त किया जासकताहै। (१) एककर्म्मज और (२)उभयकर्म्मज। एवं (३)संयोगज। मकानपर यदि कोई पक्षी आवैठे तो वहाँ उत्पन्न होनेवाला उन दोनों

का संयोग एककर्म्मज होगा। क्योंकि मकानमें कोई चलन नहीं, केवल पक्षीमें चलन होगा, जिससे पक्षी और मकान इन दोनोंमें एक संयोग नामका गुण उत्पन्नहोगा। उभयकर्म्मज संयोग वहाँ होताहै जहाँ संयुक्त होनेवाले दोनों द्रव्योंमें क्रिया हुईहो। जैसे दो पक्षी उड़कर यदि परस्परमें संयुक्तहों, तो वह उन दोनोंका संयोग उभयकर्म्मज होगा। क्योंकि कर्म्म दोनों पक्षियोंमें हुएहैं। संयोगज-संयोग वहाँ होताहै जहाँ किसी अवयवीके एक अवयवके साथ उस द्रव्यका संयोग होता है, फिर उस अवयवोंके साथ उस द्रव्यका संयोग होताहै। जैसे हाथसे पुस्तकका संयोग होनेपर शरीरमें जो पुस्तकका संयोग होताहै वह होताहै संयोगजसंयोग। इसे संयोगज इसलिए माना जाताहै कि क्रिया तो हाथमें हुई होतीहै और संयोग शरीररूप पूरे अवयवीमें, अतः क्रियाके साथ एकाधिकरणता नहीं बनती। और अन्यअधिकरणमें होनेवाली क्रियासे यदि अन्य आश्रयमें संयोगकी उत्पत्ति मानीजाय तो कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। फिरतो किसी एक वस्तुमें क्रिया होने पर अन्य सारे द्रव्य संयुक्त होजायाकरेंगे। अतः मानना होगा कि शरीर-पुस्तक-संयोग कर्म्मज नहींहै, हस्त-पुस्तकसंयोगसे उत्पन्न होनेके कारण संयोगज है। इस संयोगज संयोगको भी दोभागोंमें विभक्त किया जासकताहै। जैसे—"कारणाकारणसंयोगज" और "कारणकारणसंयोगज"। "कारणाकारणसंयोगज वहाँ होताहै जहाँ एक निरवयव-पदार्थको किसी सावयव पदार्थसे संयोग होताहै। जैसे—एक परमाणु यदि किसी द्व्यणुकके अवयवभूत अन्य परमाणुमें आकर जुटजाय तो उस परमाणुके साथ होनेवाला वह द्व्यणुकसंयोग कारणाकारणसंयोगज संयोग होगा, क्योंकि स्वतन्त्र परमाणुहै अकारण और द्व्यणुकावयव-परमाणुहै द्व्यणुकका कारण। और दो अवयवियोंके अवयवोंमें परस्पर संयोग होनेपर

दोनों अवयवियोंका जो संयोग होता वह होताहै "कारणाकारण-संयोगज" संयोग। क्योंकि प्राथमिक संयोग जिन दोनोंमें होता है, वे होतेहैं परवर्त्ती-संयोगके आधारभूत दोनों अवयवियोंके कारणीभूत अवयव। यद्यपि संयोगजसंयोगका इस प्रकार विभाजन प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने नहीं कियाहै किन्तु मुझे तो यह विभाजन उचित प्रतीत होताहै। एक नयीबात यहाँ ध्यानदेनेयोग्य प्रतीत होतीहै कि अधिकतर स्थलोंमें संयोगजसंयोगको संयोग-परम्परा-जन्य मानना होगा। जैसे किसी वृक्षकी शाखाके अवयवावयवके अन्तर्गत किसी भागमें यदि कोई पक्षी बैठाहै तो यह नहीं कहाजासकता कि उस पक्षीको वृक्षसे संयोग नहींहै। किन्तु यहभी कहना कठिनहै कि वृक्षमें असंयोगज संयोगहै, क्योंकि एक देशके साथ संयोग होनेके कारणही पूरे वृक्षके साथ संयोग मानाजाताहै। परन्तु संयोगजसंयोग भी मानना कठिन इसलिए है कि अवयवोंके उपचय या अपचयसे जब आपरमाण्वन्तभङ्ग करके नवीन वृक्षकी उत्पत्ति होतीहै तब तो उस पक्षिसंयोगका आश्रयभूत भागको वृक्षका अवयव नहीं मानाजासकता किन्तु उसकी अवयव-धाराके अन्तर्गत किसी अवयवका अवयव मानना होगा। अवयव-संयोगसे जो अवयवीका संयोग होताहै उसीका नामहै संयोगज-संयोग। जबकि वह भाग जिसमें कि पक्षीका संयोग होताहै, वृक्षकाअवयवही नहीं हो सका, फिर वृक्षकेसाथ होनेवाले पक्षिसंयोगको कैसे संयोगजसंयोग कहाजासकता? अतः कहना होगा कि एतादृशस्थलमें संयोगका एक प्रवाह चलपड़ताहै, जिसका विश्राम पक्षिवृक्ष-संयोगमें आकर होताहै। ऐसा माननेके अतिरिक्त मैं और कोई उपाय नहीं देखता।

वह पाकभी संयोगही है जिसके सहारे रूप, रस आदिका परिवर्त्तन द्रव्योंमें हुआ करता है। क्योंकि रूप, रस आदिका

परावर्त्तक तेजःसंयोगका ही दूसरा नाम होता है पाक। इसके सम्बन्धमें प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंका बड़ाही गहरा मतभेद पायाजाता है। कुछलोगोंका कहनाहै कि ये रूपादिपरावर्त्तक-तेजःसंयोग परमाणुओंमेंही हुआकरतेहैं घट आदि अन्त्यावयवी-द्रव्योंमें नहीं। जैसे घट आदि किसी भी पाच्य-द्रव्यको जब प्रबल अग्नि आदि किसी तेजके अन्दर रखतेहैं तो प्रथमतः उस घड़ेके साथ आगका "रूपापरावर्त्तक" संयोगही होताहै। अनन्तर उस वेगवान् आगके साथ परमाणुका भी संयोग होनेके कारण परमाणुमें क्रिया उत्पन्न होजातीहै। फिर परमाणुओंमें परस्पर विभाग होनेपर पूर्ववर्त्ती परमाणुद्वय-संयोगका नाश होताहै, जिससे कच्चे द्व्यणुकका नाश होताहै। द्व्यणुक नष्ट होनेपर त्र्यणुकका और त्र्यणुक नष्ट होनेपर चतुरणुकका, एवंक्रमेण पूरे अपक्व घटतकका नाश होजानेपर सारे परमाणु विशृंखल, स्वतन्त्र होजातेहैं तब जो उसमें अग्निसंयोग होताहै वह रूप रस आदिका परावर्त्तक होताहै, अतः वही 'पाक' शब्दका वाच्य होताहै। फिर परमाणुओंमें रूप, रस आदिकी परावृत्ति होजाने-पर नूतन-रूप-रस-सम्पन्न अतएव पक्व परमाणुद्वयसे पक्व-द्व्य-णुककी सृष्टि होतीहै, और फिर त्र्यणुक आदिके उत्पाद-क्रमसे पक्व-घटकी उत्पत्ति होतीहै। केवल घटकाही नहीं जहाँभी कहीं जिस किसीभी तेजके संयोगसे किसी द्रव्यमें रूप, रस आदिकी परावृत्ति प्रतीत होतीहै वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिए। जैसे सूर्य्यकिरणके सम्पर्कसे यदि पेड़में आम पकेगा तो वहाँभी ऐसीही प्रक्रिया समझनी होगी।

कुछलोगोंका कहनाहै कि सर्वत्र पाकस्थलमें आपरमाण्वन्त भङ्ग नहीं होता। क्योंकि नियमतः ऐसा होनेसे "यह वही घटहै" इसप्रकार जो प्रत्यभिज्ञा, लोगोंको होतीहै वह न होसकेगी। अतः

जहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं होतीहै आकृति भिन्न होजातीहै वहाँ अवयवीका नाश माननेपर भी प्रत्यभिज्ञास्थलमें इसप्रकार पाककी प्रक्रिया माननी चाहिये कि, प्रत्येक सावयवद्रव्य सच्छिद्र हुआकरतेहैं वेगवान् तेजका संयोग उस द्वारसे भीतर तक होजाताहै, अतः पूरा अवयवी यथापूर्व अवस्थित होता हुआभी पकजाताहै, उसमें रूप रस आदिकी परावृत्ति होजाती। यदि ऐसा न हो तो जहाँ कच्चे घड़ेमें कोई नाम या चित्र खोद देतेहैं वहाँ पकनेकेबाद वह चित्र या नाम उपलब्ध नहीं होना चाहिए, मिट जाना चाहिए। क्योंकि आपरमाण्वन्त भङ्गके अनन्तर तो नूतनही घट उत्पन्न होता है, उसमें नाम कैसे आजाता-है। परन्तु पूर्वोक्त आपरमाण्वन्त-भंगवादी इसके उत्तरमें यह कहतेहैं कि पाकातिरिक्तस्थलमें जहाँ कि पूर्व घड़ेमें नाम आदि अङ्कित था और उस घड़ेसे सूई आदिके द्वारा कुछ रेणुओंको अलग कर दिया, तादृशस्थलमें यह सभीको मानना पड़ेगा कि पूर्वघटका नाश होकर नूतन खण्डघटकी सृष्टि हुईहै। फिर वहाँ क्यों नहीं यह प्रश्न उठ खड़ा होता कि वे खुदे हुए नाम कैसे अक्षुण्ण रहजातेहैं। अतः उभयस्थलमें अद्भुत कारणशक्तिके सहारे समान रूपसे उक्त शङ्काका निराकरण करना होगा।

—o—

विभाग गुण

जिस गुणसे संयोगका नाशहो, वही है "विभाग"। प्रथम-क्षणमें द्रव्यमें क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय क्षणमें विभाग उत्पन्न होताहै। उसके पर-क्षणमें पूर्वसंयोगका नाश होताहै। अतः द्वितीय-क्षणमें होनेवाले विभागको संयोगनाशकता भी-है, और वह गुणभी है इसलिए वह विभाग कहलाताहै। जैसे

वृक्षमें लटकते हुए फल पत्ते आदि में प्रथमतः वेगवान् वायुके संयोगसे क्रिया उत्पन्न होतीहै, अर्थात् फल, पत्ते आदि जोरोंसे हिलने लगतेहैं फिर शाखाके साथ विभाग-गुण उनमें उत्पन्न होताहै, जिससे शाखाके साथ होनेवाले फल, पत्ते आदिका संयोग नष्ट होताहै। जिससे वे फल पत्ते आदि गिरतेहैं। अथवा यों समझना चाहिए कि जोगुण, क्रियाके अव्यवहित परक्षणमें नियमतः उत्पन्नहो उसका नामहै विभाग। क्योंकि क्रिया उत्पन्न होनेपर विभाग अनिवार्य्य होताहै। इसे संयोगाभाव नहीं कहा जासकता। क्योंकि संयोगाभाव तो चन्द्र और सूर्य्य इन दोनोंमें भी है किन्तु इन दोनोंको विभक्त नहीं कहा जा-सकताहै। यतः विभाग नियमतः संयोगपूर्वक होताहै, उक्त दोनोंमें कभी संयोग नहींथा अतः विभागभी नहीं कहा जासकता। इसे संयोगनाशभी नहीं कहा जासकता क्योंकि यह संयोगनाशका कार-णहै। कारण और कार्य्य दोनों एक नहीं होते। साथही यहभी बात है कि "दोनों विभक्त हुए" इसप्रकार ज्ञान वा व्यवहार-स्थलमें नाश प्रतीत नहीं होता। इसे "पृथक्त्व" इसलिए नहीं माना जा सकता कि पृथक्त्व तो उन दोनों पदार्थोंका भी होता-है, जिनमें कभी संयोग नहीं होता। किन्तु विभाग उन दोनोंको नहीं होसकता। जैसे सूर्य्य और चन्द्रमाको। अन्योन्याभाव इसे इसलिए नहीं कहा जासकता कि वह तो संयुक्त दोपदार्थोंमें भी होताहै, किन्तु विभाग संयुक्तावस्थामें नहीं होता। जब घट और पट परस्पर संयुक्त होतेहैं तब उन्हें विभक्त नहीं कहाजाता किन्तु परस्पर भिन्न कहा जाताहै। अतः विभाग एक स्वतन्त्र गुण है।

विभागके प्रभेद

विभाग भी संयोगके समान तीन प्रकार होतेहैं। एककर्म्मज,

उभयकर्म्मज, और विभागज। एकमें ही क्रियाकी उत्पत्ति होकर यदि दो द्रव्योंमें परस्पर विभाग हो, तो वह एककर्म्मज होताहै। जैसे— एक मकानपरसे पक्षीके उड़नेपर जो मकान और पक्षी इन दोनोंका विभाग होताहै वह होताहै एककर्म्मज। जहाँपर संयुक्त दोनों पक्षियों- में क्रिया होनेके कारण दोनों विभक्त होतेहैं वहाँ विभाग उभयकर्म्म- ज होताहै। पुस्तकसे हाथ हटनेपर जो शरीर और पुस्तकमें विभाग उत्पन्न होताहै वह होताहै विभागजविभाग। उसे कर्म्मज न मानकर विभागज माननेमें युक्ति वही है, जो कि संयोगजसंयोग माननेमें। अर्थात् हाथकी क्रिया पूरे शरीरकी क्रिया नहीं, क्योंकि समग्र अवयवोंमें कम्पन होनेपर ही अवयवीमें कम्पन माना जाताहै। कम्पन होगा दूसरेमें और विभाग होजायगा किसी दूसरेका, ऐसा माना नहीं जासकता। अतः जबकि कम्पन शरीर- में नहीं, शरीरके अवयव हाथमें हुआहै, तब शरीर-पुस्तक-विभा- गको कर्म्मज नहीं कहा जासकता। अतः अगत्या उसे "हस्त पुस्तक-विभागज" मानना होगा। विभागज-विभाग भी दो प्रकार होतेहैं, जैसे कारण-मात्र-विभागज और कारणाकारणविभागज। एक कपालसे अपर कपालका विभाग होनेपर जो कपालाकाश- विभाग होताहै वह होताहै, कारणमात्र-विभागज। क्योंकि दोनों कपाल एक घटके प्रति कारण होतेहैं. अतः कपालद्वयका विभाग होताहै कारणमात्र-विभाग और उससे उत्पन्न कपालाकाश-विभाग कहलाताहै कारणमात्र-विभागज। कारणाकारण-विभागजका उदाहरण काय-पुस्तक-विभाग आदि समझना चाहिये। क्योंकि वहाँ प्रथम विभाग कारण और अकारणोंका होता। हाथहै शरीरका कारण और पुस्तकहै अकारण। कपालोंमें परस्पर विभाग होनेपर तज्जन्यरूपसे अभिमत कपालाकाशविभागको एवं तत्स- मान अन्य विभागोंको कर्म्मज न मानकर विभागज माननेमें

प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने यह युक्ति दीहै कि कपालोंका परस्पर विभाग होताहै। आरम्भक-संयोगका विरोधी विभाग, और कपाल आकाशका विभाग होताहै। अनारम्भकसंयोगका विरोधी विभाग, क्योंकि दो कपालोंमें परस्पर विभाग होनेपर घटारम्भक कपाल-द्वयका संयोग नष्ट होताहै। और कपालके साथ आकाशका विभाग होनेपर जिस कपालाकाशसंयोगका नाश होताहै वह किसी द्रव्यका आरम्भक नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें एक क्रिया, इन दो विभागोंको नहीं उत्पन्न करसकती। यदि फिरभी ऐसा माननेका आग्रह कियाजाय तो कमलकलीके खिलनेके समयही उसका नाश होजायगा। क्योंकि कमलदलोंमें दोप्रकार संयोग रहतेहैं, एक नालके ऊपर कलीके निम्नभागमें और दूसरा फूलके अग्रभागमें। सूर्य्योदयके अनन्तर किरणसम्पर्कसे कमलदलोंके अग्रभागमें क्रिया होनेपर अग्रदेशमें विभाग होताहै किन्तु नीचेदेशमें विभाग नहीं होताहै, क्योंकि ऊपर होनेवाला विभाग होताहै अनारम्भक-संयोग-विरोधी विभाग, और नीचेका विभाग होगा आरम्भक-संयोग-विरोधी विभाग, यदि एकही क्रिया दोनों विभागोंको उत्पन्नकरे तो दोनों स्थानोंमें विभाग हो जानेके कारण दलोंके दोनों संयोग नष्ट होजायेंगे। जिससे विकासके बदले उसका विनाश अनिवार्य्य होआयेगा। अतः कपालद्वयविभाग और कपालाकाशविभाग इन दोनोंकी उत्पत्ति एक क्रियासे नहीं मानी जासकती। सुतरां कपालाकाशविभागको कर्म्मज न मानकर विभागज मानना ही होगा। यह ध्यान रखनेकी बात है कि अनारम्भ-वादियोंके मतमें संयोगजसंयोग या विभागजविभाग माननेका कोई प्रयोजनभी नहीं रहता, और इन दोनोंकी सम्भावनाभी नहीं रहती।

परत्व गुण

यह वस्तु इस वस्तुसे "पर" है इस प्रकार ज्ञान या वाक्य-प्रयोग जिस गुणके सहारे होताहै, अर्थात् जोगुण उक्त ज्ञान किंवा वाक्य-प्रयोगके प्रति असाधारण कारण होताहै उसका नामहै "परत्व"। पर शब्दका प्रयोग उत्कृष्ट अर्थमें होताहै, तदनुसार उत्कृष्टत्व भी परत्व समझा जासकताहै परन्तु प्रकृत "पर" और "परत्व" वह नहींहै, क्योंकि यह परत्व अपकृष्टमें भी रह सकता है। एवं कहीं-कहीं "पर" शब्दका प्रयोग, भिन्न "अन्य" अर्थमें भी होताहै किन्तु प्रकृतमें वहभी अभिप्रेत नहीं। क्योंकि भिन्नत्व-रूप परत्व तो अन्योन्याभाव होताहै और यह अभाव नहीं, गुणहै। कहीं, कहीं "पर" शब्द-शत्रु अर्थमें भी प्रयुक्त होताहै, जैसे "स्व-पर" इत्यदि, तदनुसार परत्वका अर्थ शत्रुता भी समझी जासकतीहै, किन्तु प्रकृत-विवेचनीय वह भी नहींहै। क्योंकि यह परत्व मित्रमें भी रहताहै। यह सापेक्ष होताहै, क्योंकि किसी वस्तुको अपर समझकर ही तदपेक्षया किसी को पर कहाजाताहै। द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओंकी उत्पत्तिके समान परत्वकी उत्पत्तिमेंभी अपेक्षाबुद्धि नामक ज्ञान अर्थात् "यह एक वस्तुहै और यह एक अन्य वस्तुहै" ऐसा ज्ञान कारण होताहै, और उसके नष्ट होजानेपर यह नष्ट होजाता है। यही कारणहै कि एकबार परत्वबुद्धि होने-पर भी कुछ समयबाद फिर यदि उस वस्तुको पर समझना होताहै, तो फिर अपेक्षाबुद्धि करलेनी पड़तीहै, तब यह वस्तु इस वस्तुकी अपेक्षासे "पर"है, ऐसा बोध होताहै, ऐसा प्राचीन-पदार्थ-शास्त्रियोंका कहनाहै।

—०—

परत्वके प्रभेद

परत्व दो प्रकार हैं—एक कालिक और दूसरे दैशिक। ज्येष्ठत्व है कालिक-परत्व और दूरत्व है दैशिक-परत्व। कालिक-परत्व-स्वरूप ज्येष्ठत्व है अधिक सूर्य्योदयक-कालस्थितिकत्व। अर्थात् जिस वस्तुके अस्तित्वकालमें जितना अधिक सूर्य्योदय हुआ होता है, वह उतना ज्येष्ठ कहलाता है। इस दृष्टिसे संसारकी अनादिता और वस्तुकी असंख्यतासे यह ज्येष्ठत्व नामक परत्व असंख्य होता है। दैशिकपरत्वस्वरूप दूरत्व है अधिकमूर्त्तद्रव्य-व्यवहितत्व। अर्थात् जिस वस्तुके स्थिति-देशतकमें जितने अधिक परिच्छिन्न मूर्त्त-द्रव्य होते हैं वह उतना अधिक दूर कहलाता है। वस्तुतः जिस वस्तुकी प्राप्तिमें जितना अधिक गमन अपेक्षित होगा वह उतना अधिक दूर कहलायेगा। अन्यथा समान भूभागव्यवहित दो वस्तुओंके अन्दर यदि एकके बीच कुछ अधिक पार्थिव-रेणु रख दिये जाँय, तो वह दूर कहलाने लगेगा। क्योंकि अधिक मूर्त्तान्त-रितत्व होजायगा। यदि यह कहा जाय कि अधिकगमनसापेक्ष परत्वको माननेपर अनुल्लंघ्य अत्युन्नत-पर्वतव्यवहित निकट-देशको दूरत्वापत्ति होगी, तो यही उत्तर होगा कि तादृश स्थलमें तबतक दूरत्व माना ही जाता है, जबतक अल्पकालसापेक्ष सुलभ मार्ग नहीं बन जाता। किन्तु यहाँ यह एक ध्यान रखने की बात है कि, इस विवेचनमें हमारे कुछ प्राचीन-पदार्थशास्त्रियोंके विवेचनसे सूक्ष्म अन्तर पड़ता है। क्योंकि वे ज्येष्ठत्वस्वरूपकालिक परत्वको अधिक सूर्य्योदयकालस्थितिकत्व रूप बहुतरसूर्य्य-परिस्पन्दान्त-रितत्वात्मक न मानकर उसके ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला माना है। दूरत्वस्वरूप दैशिकपरत्वको भी बहुतरमूर्त्तान्तरितत्वस्वरूप न मानकर बहुतरमूर्त्तसंयोगान्तरितत्वके ज्ञानसे उसकी उत्पत्ति मानते

हैं। सम्भवहै कि उनलोगोंको ऐसा कहनेमें यह भय हुआहो कि तबतो वह कोई सखण्ड धर्म्ममात्र होकर रहजायगा, परत्व स्वतन्त्रगुण नहीं रह सकेगा। परन्तु यह कोई बात नहीं क्योंकि "जातिभिन्न चक्षुर्मात्रग्राह्य रूपहै" ऐसा कहनेपर क्या रूपका गुणत्व खण्डित होजाता है? मैंने जो कुछ यहाँ विचारस्वातन्त्र्यका अवलम्बन किया है इसका कारण यहहै कि यदि वस्तु क्रियाशील-हो तो दूरवर्त्ती पदार्थ भी निकटवर्त्ती होसकताहै, अतः दूरत्वरूप परत्वको तो नियत नहीं मानाजासकता, परन्तु ज्येष्ठत्व स्वरूप परत्वके सम्बन्धमें यह बात नहींहै, वह नियतही रहताहै, बड़ाभाई कभी छोटेभाईसे छोटा नहीं होताहै। यदि "बहुतरसूर्य्यपरि-स्पन्दान्तरितत्व"के ज्ञानसे ज्येष्ठत्वरूप परत्वकी उत्पत्ति मानोजाय तो जबकि बड़ेभाईमें अधिकसूर्य्योदयान्तरितत्वका ज्ञान किसीको नहीं रहेगा तो वह ज्येष्ठत्वसे च्युत होजायगा जो अनुभवके बाहरकी बात होजातीहै। इतनाही नहीं यदि किसी भ्रान्त मनुष्यको छोटेभाईमें "बहुतरसूर्य्योदयान्तरितत्व" का ज्ञान होगा तो तत्त्वतः उसमें ज्येष्ठत्वस्वरूप परत्वकी उत्पत्ति होबैठेगी और वह वस्तुतः ज्येष्ठ होबैठेगा। यदि इस नवीन विचारमें कोई सारहो तो कहनाहोगा कि अपेक्षाबुद्धिको कारणता केवल दूरत्व-रूप परत्वके प्रति है ज्येष्ठत्वस्वरूप परत्वके प्रति नहीं।

अपरत्व

"यह इससे अपरहै" इसप्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग जिस गुणके आधारपर होताहै वहहै अपरत्व। अपरत्व परत्वसापेक्ष हुआकरताहै। अर्थात् किसीको "पर" समझकर उसकी अपेक्षासे किसीको "अपर" समझा अथवा कहाजासकताहै। अतः यह भी परत्वके समान "यह एक है और यह एक" इसप्रकार होनेवाली

अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होता है। "अपर" शब्दका अधिकतर प्रयोग लोग "अन्य" अर्थमें कियाकरतेहैं किन्तु यहाँ उसका विवेचन नहीं होरहाहै, यह एक गुण पदार्थहै और अन्यत्व, भेद भिन्नता आदि अभावस्वरूप हैं। अतएव "अ" का अर्थ अभाव करके परत्वाभाव भी अर्थ नहीं समझना चाहिए। प्राचीन-आचार्योंने पूर्वोक्त परत्वगुणके समान इसे भी अपेक्षाबुद्धिके नाश होनेके परक्षणमें नष्ट होजानेवाला मानतेहैं। इसमें भी युक्ति वहीहै जो परत्वनाशकी साधिकाहै। अर्थात् यदि अपरत्व रूप, रस आदिके समान द्रव्यमें स्थायीरूपसे रहता तो फिर उसवस्तुको देखतेही यह "अपरहै" ऐसा ज्ञान होजाना चाहियेथा। किन्तु ऐसा होता नहीं "यह एक है और यह एक" इसप्रकार अपेक्षाबुद्धिपूर्वक किसीको पर समझकर उसकी अपेक्षासे प्रकृतवस्तुको "अपर" कहा-जाताहै।

अपरत्वके प्रभेद

अपरत्वके भी प्रभेद दो हैं। "कनिष्ठत्व" और "निकटत्व"। कनिष्ठत्वहै वयसकी (उम्रकी) न्यूनता। यही कारणहै कि छोटा भाई कनिष्ठ कहलाताहै। इस अर्थमें "अपर" शब्दका लोकमें प्रयोग "कवि अपर ब्रह्मा होताहै" इत्यादि समझना चाहिये। इस "अपर" शब्दको "अन्य-वाची" भी मानाजासकताहै, यह कथन सङ्गत नहीं मालूम होता, क्योंकि तब अपर शब्दके प्रयोगस्थलमें जो उस वस्तुकी पश्चादुत्पत्ति का भान होताहै वह नहीं होसकेगा? जैसे यदि यह कहाजाय कि "ये अपर कालिदासहैं" तो इस प्रशंसनीय व्यक्तिमें मूल कालिदासकी अपेक्षासे पश्चात्कालीनता एवं गुणगत किञ्चिन्न्यूनता भी प्रतीत होतीहै। केवल अन्यार्थक मानने पर उन अर्थोंकी अभिव्यक्ति

नहीं हो सकती। परत्व-विचारके अवसरपर विहित नवीन-विचारके अनुसार यहाँभी कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्वको अल्पसूर्य्योदयकजीवनकालता" स्वरूप कहा जासकताहै। अर्थात् जिसके जीवनकालके भीतर होनेवाले सूर्य्योदयकी संख्या कमहोगी वह, जिसके जीवनकालमें सूर्य्योदयकी संख्या अधिक होगी, उसके प्रति कनिष्ठ, अपर, छोटा आदि शब्दसे पुकारा जायगा। सूर्य्योदय शब्दसे सूर्य्यकी क्रियामात्र अभिप्रेतहै, अन्यथा एक दिनके अन्दर उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव नहीं होसकेगा। यहाँ एकबात विचारणीय यह उपस्थित होसकती-है कि यदि कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्वको सूर्य्यपरिस्पन्दकी अल्पताके आधारपर स्थायी मानाजायगा तो रूप, रस आदिके समान उसे अपेक्षाबुद्धिके विनाभी ज्ञात होना चाहिये। इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि कनिष्ठताके ज्ञानके प्रति अपेक्षाबुद्धि-ज्ञानको कारण मानलिया जायगा, अतः उसके विना एवं किसीको "पर" समझे विना किसी भी वस्तुमें कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्व-का ज्ञान सम्पन्न नहीं होगा। इसी कनिष्ठत्वस्वरूप अपरत्वको कालिक-अपरत्व कहाजाताहै। दूसराहै दैशिक अपरत्व जिसे निकटत्व कहाजाताहै। व्यवहर्त्ता एवं "अपर" रूपसे व्यवहार्य्य वस्तुके बीच यदि परिच्छिन्न पार्थिव जलीय आदि द्रव्योंकी संख्या कम होगी तो वस्तु उसवस्तुकी अपेक्षासे "अपर" "निकट" आदि कहलायेगा, जिसके एवं व्यवहर्त्ताके बीच उन मूर्त्तद्रव्योंकी संख्या अधिक होगी। जैसे काशीमें विद्यमान कोईभी मनुष्य यह कहसकताहै कि कलकत्तेकी अपेक्षासे पटना निकटहै। क्योंकि-काशीस्थित उस व्यक्तिसे लेकर कलकत्तेके अन्दर जितने पार्थिव, जलीय आदि परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं काशीसे पटनेतकमें उनसे कमहैं। परन्तु यह ध्यानरखनेकी बातहै कि परत्वेन किंवा

अपरत्वेन व्यवहार्य्य वस्तुके स्थानान्तरण स्थलमें वह वस्तु दूर भी होजासकती है जो कि पहले निकटथी।

ज्ञान

जिस गुणके सहारे प्राणियोंकी सारी जीवन-चेष्टायें सम्पन्नहों वहीहै बुद्धि, ज्ञान। स्वस्थ-चित्त पुरुषोंकी तो बात क्या, पगला भी जो भी कुछ करताहै, कुछनकुछ समझ करही करताहै। भलेही उसका समझना गलत क्यों न हो। मनुष्य ही नहीं, आकीटपतङ्ग सभी प्राणी जो भी कुछ करतेहैं, कुछनकुछ समझ करकेही करतेहैं। उसी समझनेका नाम है बुद्धि ज्ञान इत्यादि। कुछलोग "बुद्ध्यते अनेन इति बुद्धिः" इस व्याख्याके अनुसार अन्तःकरणको बुद्धि कहतेहैं। परन्तु यहाँ वह विवक्षित नहींहै। क्योंकि अन्तःकरण द्रव्यहै गुणनहीं। किन्तु "बोधो बुद्धिः" इसके अनुसार वह ज्ञानात्मक गुणहै। प्राचीन-पदार्थशास्त्रियोंने इसे आत्माका गुण मानाहै। इस सम्बन्धमें उनलोगोंकी युक्ति यह है कि जो किसी भी वस्तुको समझताहै उसे उसविषयमें इच्छा होतीहै, फिर भीतरमें ही प्रयत्न होताहै, अनन्तर उसके सहारे बाहर शरीरमें चेष्टा होतीहै। इच्छा यत्न आदि आत्माके गुणहैं, अतः ज्ञान भी उसीको होना चाहिये।

कुछलोगोंका मत यहहै कि ज्ञान आदि आत्माके गुण नहींहैं, अन्त:करणके धर्म्म हैं। किन्तु यह समुचित इसलिए नहीं कि किसी भी वस्तुका स्वरूप, प्रतीति और वाक्य-प्रयोगके आधार-परही निर्णीत होताहै। "मैं" इसबातको जानताहूँ" "मैं इसे नहीं जानता" इसप्रकार ज्ञान तथा वाक्य-प्रयोग आपामरसाधारण सभीलोग कियाकरतेहैं। "मैं अपनेको अर्थात् आत्माको ही कहा

जाता। मनके लिए, याने अन्तःकरणके लिए तो "मेरा मन" "मेरा अन्तःकरण" इसीप्रकार ज्ञान तथा वाक्यप्रयोग हुए पायेजाते हैं। जबकि "मैं जानताहूँ" इसीप्रकार ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग होताहै तो माननाही पड़ेगा कि ज्ञान मुझे, अर्थात् आत्माकोही होताहै। एतदतिरिक्त प्राचीनोंने यहभी युक्ति इस सम्बन्धमें बतलायीहै कि एककालमें बहुतज्ञान न होनेके कारण मन या अन्तःकरण अतिक्षुद्र अणु-परिमाणहै यह माननाहोगा। गुण वही प्रत्यक्ष कियाजासकता जिसके आधारमें महत्त्वहो, यही कारणहै कि पार्थिव परमाणुका रूप तो नहीं देखा जासकता, किन्तु घड़ेका रूप देखाजाताहै। अब यदि ज्ञान अन्तःकरणका गुण हो तो उसका कोई प्रत्यक्ष नहीं करपायेगा। किन्तु सभी लोग ऐसा समझतेहैं कि "मैं समझताहूँ मैं जानताहूँ" इत्यादि। अतः ज्ञान आत्मकाही गुण होगा। शरीरके अन्दर "पुरीतत्" नामक नाड़ीसे बाहर जब मन आत्मासे जुटताहै तो ज्ञान गुण उत्पन्न होताहै, क्योंकि ज्ञानमात्रके प्रति "आत्ममनःसंयोग एवं त्वङ्मनः संयोग कारण होते हैं। यही कारणहै कि गाढ़निद्रास्वरूप सुषुप्ति अवस्थामें ज्ञान नहीं उत्पन्न होताहै। क्योंकि "पुरीतत्" नामक नाड़ी त्वक्से रहित होती है। सुषुप्तिकालमें ज्ञान इसलिए नहीं मानाजाता कि ज्ञान कभी निर्विषयक नहीं होता, यदि सुषुप्तिमें ज्ञान होता तो सोकर उठनेके बाद लोग विषयका स्मरण करते, किन्तु करते नहीं, अतः मानना होगा कि सुषुप्तिकालमें ज्ञान नहीं होता। कुछलोगोंका कहनाहै कि "मैं खूब सोया" इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान लोगोंको होताहै, और स्मरण, विना अनुभवका नहीं होता, अतः मानना होगा कि सुषुप्तिकालमें अन्यविषयोंका अनुभव भलेही नहो, किन्तु सुषुप्तिस्वरूप अवस्थाका अनुभव अवश्य होताहै, किन्तु यह बात इसलिए सही नहीं कि मनुष्य जागने पर "मैं खूब सोया"

इसके साथ साथ "कुछ नहीं समझा" यह भी समझता एवं कहता है। यदि सुषुप्तको समझ होती तो मैं कुछ नहीं समझा इस प्रकार पीछे वह कैसे समझता ? रही बात यह कि "मैं खूब सोया" यह स्मरण कैसे होता ? क्योंकि विना अनुभवका स्मरण तो होता नहीं। इसका उत्तर यह है कि जागरण-कालमें जो "मैं खूब सोया" यह ज्ञान होताहै वह स्मरण नहीं, अपितु अपनी शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाको देखकर उसके आधारपर वह अनुमान किया जाताहै। अनुमानमें विशिष्टरूपसे पूर्वानुभवकी आवश्यकता नहीं होती।

ज्ञानकी स्थितिके सम्बन्धमें प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंका यह मतहै कि ज्ञान जिस क्षणमें उत्पन्न होताहै उससे तीसरे क्षणमें वह मरताहै ? अतः यदि उसके उत्पत्ति-क्षणको भी उसका अस्तित्व-क्षण मानाजाय तो वह दो क्षण रहकर तीसरे क्षणमें मरजाताहै। और यदि केवल स्थिति देखीजाय तो वह मध्यमें एक क्षणमात्र रहताहै। किन्तु इसके अपवाद-स्वरूप "अपेक्षाबुद्धि" नामक ज्ञान चतुर्थक्षणमें नष्ट होनेवाला माना जाताहै। इसका कारण यह कि ऐसा न माननेपर "ये दो हैं" इसप्रकार दो द्रव्योंका प्रत्यक्ष नहीं होसकेगा, क्योंकि प्रथम-क्षणमें "यह एकहै और यह एक" इसप्रकार अपेक्षाबुद्धि होगी, द्वितीय-क्षण में उन दो वस्तुओंमें द्वित्व नामकी संख्या उत्पन्न होगी, तृतीय-क्षणमें द्वित्वके धर्म्म द्वित्वत्वका ज्ञान होगा और अपेक्षाबुद्धि मरेगी। इसका फल यह होगा कि द्वित्वके ज्ञानकालमें ही द्वित्व मरजायगा फिर पर-क्षणमें "ये दो हैं" इसप्रकार द्वित्वविशिष्ट द्रव्यका प्रत्यक्ष नहीं होसकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष कभी अवर्त्तमान-वस्तुका नहीं होता। चतुर्थक्षणमें अपेक्षाबुद्धिका नाश माननेपर कथञ्चित् द्वित्वनाशक्षणमें उक्तप्रकार द्वित्वयुक्त-द्रव्यका प्रत्यक्ष हो सकेगा।

कुछलोग, जो कि वस्तुमात्रको क्षणभङ्गुर मानतेहैं किंवा वस्तुमात्रको क्षणिकज्ञानस्वरूप मानतेहैं, वे ज्ञानको अस्थिर मानतेहैं। अर्थात् उनका कहनाहै कि ज्ञान उत्पन्नहोनेके परक्षणमें ही नष्ट होजाताहै। परन्तु यह इसलिए युक्तियुक्त नहीं मालूम होता कि ऐसा होनेसे विषयोंका प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण नहीं होसकता। दीप यदि बरतेही नष्ट होजाय तो क्या वह घट पट आदि विषयोंको समझा सकेगा? कभी नहीं। यदि यह कहा-जाय कि बिजलीके छिटकने पर पदार्थ-प्रकाशन कैसे होताहै? तो इसका उत्तर यहहै कि क्षणकाल अतिसूक्ष्महै, विद्युत्प्रकाश भी एक क्षणमें ही नष्ट नहीं होजाताहै। अतः ज्ञानको तृतीयक्षण-नाश्य मानना चाहिए।

कुछ लोगोंका कहनाहै कि जहाँ अनेक कालतक अनिमेष-भावसे किसी एक वस्तुको देखा जाताहै, या अनेककालतक उसकी चिन्ता कीजातीहै। तादृश स्थलमें ज्ञानको तबतक स्थायी मानना चाहिए जबतक विषयका विषयीकरण होतारहे। अर्थात् ज्ञान सर्वत्र तृतीयक्षणनाश्य नहीं माना जासकता। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहींहै, क्योंकि तादृश स्थलमें ज्ञानकी धारा होतीहै। अर्थात् दीपकी शिखा जैसे तत्त्वतः अनेक-कालतक एक नहीं रहती, किन्तु अव्यवहित उत्पादके कारण, लोग उसे अनेककालस्थायी समझते हैं, इसीप्रकार कहीं धारावाहिक कारणसे धारावाहिक ज्ञानोत्पाद होताहै, जिसे लोग एकही ज्ञान मान बैठतेहैं।

ज्ञान का नाश कैसे होताहै? उसका नाशक कौनहै? इसके उत्तरमें प्राच्य-पदार्थ-शास्त्रियोंका कहना यहहै कि आत्मा और आकाशके विशेषगुणोंका यह स्वभावहै कि अपने अव्यवहित-पर-वर्ती योग्य विशेषगुणसे उनका नाश होताहै, अर्थात् एक ज्ञानके

बाद जो भी कोई ज्ञान इच्छा या प्रयत्न गुण उसी आत्मामें उत्पन्न होताहै वही उसका नाशक होताहै। जैसे—किसी फूलका मुझे ज्ञान हुआ और उसके ठीक पर-क्षणमें यदि उसकी इच्छा हुई तो उस इच्छासे वह पूर्ववर्त्ती ज्ञान नष्ट होताहै। फिर इच्छाके परक्षणमें जब उसे पानेकेलिए प्रयत्न उत्पन्न होताहै तो उस प्रयत्नसे वह इच्छा मारी जातीहै। इसीप्रकार यत्नके अनन्तर जो ज्ञान इच्छा आदि कोई योग्य आत्मविशेष-गुण उत्पन्न होताहै उससे वह प्रयत्न मरताहै। इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। योग्य-विशेषगुण कहनेका अभिप्राय यहहै कि अदृष्ट और भावना नामक संस्कार न तो ज्ञानादिके नाशक होतेहैं और न ज्ञानादिके नाश्य ही होतेहैं, क्योंकि वे योग्य नहीं।

इस ज्ञानगुणमें ही यह विशेषताहै कि यह भोग और मोक्ष दोनोंका देनेवाला होताहै। क्या नास्तिक और क्या आस्तिक, सभी दार्शनिक इस ज्ञानगुणकी महत्ताका वर्णन बड़ेही जोरोंसे करतेहैं। सम्यक्ज्ञानसे अल्प सांसारिक अभ्युदयसे लेकर बड़ेसे बड़े फल, परमनिर्वाणरूप मोक्ष पर्य्यन्त मिलतेहैं, और असम्यक्ज्ञानसे पतनकी पराकाष्ठातक प्राप्त होतीहै इस बातको सभीलोग एकस्वरसे कहते और लिखते पायेजातेहैं।

—o—

ज्ञानके प्रभेद

ज्ञानका विभाजन अनेक प्रकारसे होताहै। जिसमें एक प्रकार इस तरहहै कि ज्ञानके दो प्रभेदहैं, सविकल्पक और निर्विकल्पक। जिस ज्ञानमें कोई वस्तु विशेष्य, विशेषण किंवा दोनोंके-

सम्बन्ध विषयरूपसे नहीं भासे वह ज्ञान होता है निर्विकल्पक। यह ज्ञान मनसे भी प्रत्यक्ष नहीं कियाजाता है, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता, वह केवल अनुमेय ही होता। सविकल्पक ज्ञानसे यह अनुमान किया जाता है कि इसके अव्यवहित-पूर्वमें निर्विकल्पक ज्ञानभी हुआ है। निर्विकल्पक ज्ञान माननेको युक्ति यह है कि विशिष्टज्ञानका ही अपर नाम है सविकल्पक ज्ञान। विशिष्टज्ञान तबतक कभी नहीं होसकता जबतक विशेषणको स्वतन्त्ररूपसे न समझ लिया जाय, जैसे नीलरूपको जबतक स्वतन्त्ररूपसे न समझ लियाजाय तबतक "यह नील-साड़ी है" यह ज्ञान कभी नहीं होता। अतः "नील साड़ी है" इस ज्ञानसे पहले नीलका ज्ञान आवश्यक होगा। यदि उस नीलज्ञानको भी सविकल्पक माना जायगा, तो उस नीलमें विशेषण होनेवाले "नीलत्व"का भी ज्ञान अपेक्षित होगा। और फिर नीलत्वज्ञान भी यदि सविकल्पक अर्थात् सविशेषणक होगा तो इस विशेषणका भी ज्ञान अपेक्षित होगा, इसप्रकार अनवस्था हो चलेगी, कर्त्तव्य "यह नील साड़ी है" यह ज्ञान होना तो बहुत ही दूर होजायगा। अतः सविकल्पक ज्ञानके प्रति कारणीभूत विशेषणज्ञानको निर्विकल्पक मानना चाहिए। जैसे "नील साड़ी है" इस ज्ञानके अव्यवहितपूर्वमें होनेवाला ज्ञान नीलत्वस्वरूप विशेषणसे रहितरूपसे होगा। अर्थात् केवल नील (रूप) और साड़ी इन दोनोंका स्वतन्त्ररूपसे ज्ञान होता है, उसमें विशेषणका विषयीकरण ही नहीं होता है, जिससे यह प्रश्न उठेगा कि उसके विशेषणका ज्ञान कैसा होगा? अतः स्वतन्त्रभावसे "नीलत्व नील और साड़ी" इसप्रकार निर्विकल्पक ज्ञानके परक्षणमें "यह नील साड़ी है" ऐसा ज्ञान होता है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान मानना होगा। यदि "यह नील

साड़ीहै" इस ज्ञानको विशिष्टज्ञान न मानकर "विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही" अर्थात् विशेषणके विशेषणतकको विषय करनेवाला ज्ञान मानाजाय तो सविकल्पकका सरल उदाहरण "नील" यह ज्ञान समझना चाहिये। किन्तु उक्त प्रत्यक्ष ज्ञानको भी विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही" मानने पर सविकल्पकके अव्यवहित पूर्वमें निर्विकल्पक आवश्यकहै, यह नियम खण्डित होजाता। क्योंकि विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञानके अव्यवहित पहले निर्विकल्पक नहीं, किन्तु "विशिष्ट बुद्धि"स्वरूप सविकल्पक रहताहै। बौद्ध दार्शनिक लोग यथार्थ ज्ञान केवल इसेही मानते हैं। उनका कहनाहै कि सविकल्पक ज्ञानमें मिथ्या (असत्) विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध तथा शब्द आदिका विषयीकरण होताहै अतः वह यथार्थ नहीं होसकता, किन्तु निर्विकल्पकमें केवल शुद्ध वस्तु मात्र विषय होताहै, अतः वह यथार्थ होताहै। बौद्ध दार्शनिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमिति दो प्रकार प्रमाज्ञान मानतेहैं, एवं निर्विकल्पककोही प्रमा मानतेहैं, इस दृष्टिसे तो निर्विकल्पकको सामान्यतः ज्ञानका प्रभेद माना जायगा। किन्तु आस्तिक दार्शनिकोंके मतमें तो इसे प्रत्यक्ष ज्ञानका प्रभेद समझना चाहिए। युक्तियुक्त भी यही मत मालूम होताहै, क्योंकि अनुमिति आदि प्रमा कभी निर्विकल्पक होही नहीं सकती, पक्षस्वरूपधर्मीमें साध्यस्वरूप विधेयके ज्ञानका ही नामहै अनुमिति, उसे भला निर्विशेष्य-विशेषण-संसर्गक कैसे माना जासकता? अद्वैत-वेदान्ती लोग प्रत्यभिज्ञाको अर्थात् "यह वही मनुष्यहै" इत्यादि ज्ञानको भी निर्विकल्पक मानतेहैं। उनका कहनाहै कि उक्त ज्ञानमें केवल अखण्ड मनुष्य व्यक्तिकाही विषयीकरण होताहै "वह" और "इस"का, अर्थात् तत्ता और इदन्ताका विषयीकरण नहीं होता। क्योंकि "वह" कहनेसे अतीत कालका और "यह" कहनेसे वर्त्तमान कालका भान होताहै, और दोनों

कालोंसे सम्बन्ध एक कालमें कभी नहीं होसकता, अतः विरुद्धांशको छोड़कर केवल मनुष्यव्यक्तिका विषयीकरण मानना होगा, सुतरां "यह वहीहै" इसज्ञानमें, विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध-विषय नहीं होनेके कारण, इसे निर्विकल्पक मानना होगा। किन्तु अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं मानते, वे इसे सविकल्पकही मानतेहैं। उनका कहना यहहै कि उसे और इसे दोनोंको जबकि अभिन्न समझा जारहाहै तो मानना ही होगा कि उक्तज्ञानमें "अभेद" सम्बन्धका विषयीकरण होताहै, अतः केवल वस्तु विषयक उसे नहीं कहा जासकता। सविकल्पक वह ज्ञान होताहै जिसमें विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध इनका विषयीकरण हो। जैसे "यह नील-साड़ीहै" इत्यादि। इस सविकल्पक ज्ञानको दो भागोंमें बाँटा जा सकताहै जैसे 'व्यवसाय" और "अनुव्यवसाय"। व्यवसाय-ज्ञान वह होताहै जिसमें ज्ञान रहित विषयोंका भासन होताहै। और अनुव्यवसाय वह होताहै जिसमें ज्ञान-सहितका विषयीकरण होताहै। जैसे "यह मैं जानता हूँ कि यह नील साड़ीहै" "यह मुझे मालूमहै कि यह नील साड़ीहै" इत्यादि। कुछ दार्शनिक अनु-व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं मानतेहैं। कुछ लोग व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनोंको एक करके एकही ज्ञान मानते हैं।

ज्ञानके अन्य प्रभेद

ज्ञानको प्रथमतः अनुभव और स्मरण इन दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। इन दोनोके अन्दर अनुभव वह ज्ञान होताहै जो संस्कारके द्वारा स्मरण-ज्ञानको उत्पन्न करताहै। अनुभव-ज्ञानको प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध इन चार भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। प्रत्यक्ष वह होताहै जो कि किसी भी इन्द्रियसे वस्तुका सन्निकर्ष होनेपर ज्ञान उत्पन्न होताहै। जैसे फूल

के साथ आँख जुटनेपर "यह फूलहै" ऐसा जो आँखसे ज्ञान होता-है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। कुछलोग विषयके साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष-स्थलमें शब्दसे भी प्रत्यक्षज्ञान मानतेहैं जैसे यदि कोई अपने पास विद्यमान ही वस्तुको अविद्यमान समझ बैठताहै, और अन्य कोई उसे यहकहताहै कि यह वस्तु तो तेरे पासहीहै, तो इसके अनन्तर जो वह भ्रान्त उस वस्तुको अपने पास समझताहै वह प्रत्यक्ष-ज्ञान शब्दसे होताहै। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि जहाँ विषय सन्निकृष्ट नहीं होताहै वहाँके शब्दजन्य ज्ञान-से इस ज्ञानमें कोई वैलक्षण्य नहीं दिखाई देता। यहबात औरहै कि विषय-सन्निकर्षस्थलमें कहीं शाब्दबोधके अनन्तर प्रत्यक्षभी होजाताहै, किन्तु शब्दसेही प्रत्यक्ष होजाता है यह युक्तिसङ्गत नहीं।

प्रत्यक्षज्ञानको छः भेदोंमें विभक्त समझना चाहिये, जैसे घ्राणज, रासन, चाक्षुष, त्वाच श्रावण और मानस। क्योंकि नाक, जिह्वा, आँख, त्वक्, कान और मन ये छः इन्द्रियाँ हैं। "यह सुगन्धहै" "यह दुर्गन्धहै" यह ज्ञान घ्राणजहै, क्योंकि नाकके पास गन्धवाली वस्तुके जुटने पर नाकसे उस गन्धका प्रत्यक्ष होताहै। "यह मीठाहै यह खट्टाहै" यह प्रत्यक्ष ज्ञान होताहै रासन-प्रत्यक्ष। क्योंकि रसना (जिह्वा) से मधुर आदि रसयुक्त-वस्तुका संयोग होनेपर जिह्वासे उक्तप्रकार प्रत्यक्ष होताहै। "यह नील साड़ीहै" ऐसा ज्ञान होताहै चाक्षुष। क्योंकि रश्मि रूप-से जाकर आँख जब उस नील साड़ीसे जुटतीहै तब वह ज्ञान उत्पन्न होताहै।

प्राचीन नास्तिकों एवं आधुनिक वैज्ञानिकोंका यह मतहै कि आँख विषयके पास नहीं जाती किन्तु आँखमें ही विषयका प्रति-फलन होनेसे उसका प्रत्यक्ष होताहै। किन्तु यह मतवाद इसलिए

उचित नहीं मालूम होता कि आँखमें "पीलिया" रोग होनेपर जो सफेदवस्तु पीली मालूम पड़तीहै उसका उपपादन नहीं हो सकेगा, क्योंकि बिम्ब सफेद होनेसे प्रतिफलन भी तदनुरूप ही होगा। यदि यह कहा जाय कि पीतिमाक्रान्त चक्षुगोलकरूप आधारमें प्रतिफलन होनेके कारण ऐसा होताहै। तो यह इसलिए समुचित नहीं होगा कि स्फटिकके निकट जवापुष्प रखनेसे प्रतिबिम्बका आधारभूत स्फटिक ही जवापुष्पस्वरूप बिम्बके रूपसे प्रभावित होताहै, अर्थात् स्फटिकही लाल मालूम पड़ताहै, जवापुष्प सफेद नहीं मालूम पड़ता। तदनुसार पीतिमाक्रान्त चक्षुगोलक ही सफेद भासित होजाना चाहिये! शंख आदि शुक्लपदार्थ पीला नहीं भासित होना चाहिये। एतदतिरिक्त अन्य भी अनेक युक्तियाँहैं जिनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

चाक्षुष-प्रत्यक्ष द्रव्य गुण कर्म्म एवं जाति तथा अभाव इन सबका होताहै। त्वाच-प्रत्यक्ष भी इसीप्रकार उक्त अनतीन्द्रिय द्रव्य गुण आदि सभीके होतेहैं। त्वक् इन्द्रिय शरीरसे बाहर विषयके समीप उसप्रकार नहीं जाती जिसप्रकार आँख जातीहै। जबकि त्वक्के समीप विषय आताहै तो उसका त्वाच प्रत्यक्ष होताहै। अन्धे छू कर द्रव्योंका परिचय प्राप्त करतेहैं। शीत उष्ण आदि स्पर्शोंके प्रत्यक्ष तो सभी लोग त्वक्इन्द्रियसे ही करतेहैं। कम्पनभी स्पर्श करके मालूम होताहै। जिस इन्द्रियसे जिस द्रव्य गुण या कर्म्मका प्रत्यक्ष होताहै तद्गत जातिका भी प्रत्यक्ष उसी इन्द्रियसे होताहै, अतः स्पर्शत्व जाति आदिका भी प्रत्यक्ष त्वक्इन्द्रियसे होताहै।

कुछलोगोंका कहनाहै कि त्वक् जबकि समग्र शरीरमें व्याप्त है, तो उसे ही केवल इन्द्रिय मानना चाहिए, स्वतन्त्र आँख आदिका प्रयोजन क्या? किन्तु यह उचित इसलिए प्रतीत नहीं

होता कि, फिर तो अन्धेको भी रूपका प्रत्यक्ष होनेलगेगा; क्योंकि त्वक् इन्द्रिय तो उसे भी रहेगीही। यदि यह कहाजाय कि आँख आदि एक त्वक्के ही अवयवहैं और उन विभिन्न अवयवोंसे रूप आदि विभिन्न विषयोंके प्रत्यक्ष होतेहैं, तो यहकथन इसलिए निस्तत्त्व होबैठता कि, फिर तो इन्द्रियाँ विभिन्न ही होगयीं। क्योंकि अवयव विभिन्न ही होंगे। एवं अवयव और अवयवीको एक नहीं माना जासकता, अतः त्वक् और उसके अवयव आँख आदि इन्द्रियाँ विभिन्न ही होंगी। एवं विभिन्न कभी एक नहीं होते, अतः आँख आदिको भी एक नहीं कहा जासकता।

श्रावण प्रत्यक्ष कानसे होताहै। यह केवल शब्द और शब्दत्वका होताहै। इस प्रत्यक्षकी प्रक्रियामें दार्शनिकोंमें मतभेद देखा जाताहै। कुछ लोग कहते हैं कि शब्द जहाँ ही उत्पन्न होताहै परिच्छिन्न कानरूप श्रोत्रेन्द्रिय वहाँ जाकर उस शब्दका प्रत्यक्ष उत्पन्न कराती है। परन्तु वस्तु स्थिति यहहै कि शब्दही तरङ्ग-परम्पराक्रमसे उत्पन्न होता हुआ कानतकमें उत्पन्न होताहै, फिर कानमें उत्पन्न होनेवाले शब्दका कानसे प्रत्यक्ष होताहै। आजके विकसित विज्ञानने तो और भी इस बातको स्पष्ट कर दियाहै। क्योंकि अति दूरवर्त्ती शब्दभी सुनेजातेहैं रेडियोयन्त्रके सहारे। कान अति अज्ञात एवं अतिदूर शब्दोद्गमदेशतक पहुंचेगा ऐसा कोईभी विचारशील-हृदय नहीं मानसकता।

शब्द तरङ्गपरम्परा-क्रमसे अनन्त आकाशमें उत्पन्न होते हैं। कर्णच्छिद्रान्तर्गत-आकाशमें उत्पन्न शब्दका प्रत्यक्ष अनायास हो सकेगा। पूर्वोक्त नियमके अनुसार शब्दमें रहनेवाली "शब्दत्व" जाति भी कानसेही प्रत्यक्ष कीजाती है। मानस प्रत्यक्ष वहहै जो कि मन-इन्द्रियसे होताहै। आत्मा और आत्म-गुण ज्ञान सुख दुःख आदिका प्रत्यक्ष मानस होताहै। "मैं सुखी-

हूँ" "मैं दुखी हूँ" इत्यादि प्रत्यक्ष सभी प्राणियोंको होताहै, उसमें आँख कान आदि इन्द्रियोंका कोई प्रयोजन नहीं होता, केवल मनसे वह होताहै, अतः उसे मानस प्रत्यक्ष समझना चाहिए।

इन सभी प्रत्यक्षोंको लौकिकसन्निकर्षज, अलौकिकसन्निकर्षज और योगज इन तीन भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। लौकिकसन्निकर्षज उसे समझना चाहिये, जहाँ कि विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, एवं विशेषणविशेष्यभाव इनके अन्दर कोई भी सन्निकर्ष होगा। किसीभी द्रव्यका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रियसे करने पर उस द्रव्यके साथ इन्द्रियोंका सांयोग नामक सम्बन्ध होताहै। क्योंकि अवयवावयविभावरहित द्रव्य होनेके कारण इन्द्रियका उस द्रव्यके साथ सांयोगसम्बन्ध होताहै। जैसे पुस्तकको यदि आँखसे देखेंगे तो संयोग नामक सम्बन्ध सन्निकर्ष होगा। क्योंकि आँख जब पुस्तकसे जुटतीहै तब आँखसे पुस्तकका प्रत्यक्ष होताहै। आँख त्वक् और मनसे किसी भी द्रव्यका प्रत्यक्ष होताहै, अतः इन इन्द्रियोंसे किसीभी द्रव्यके प्रत्यक्षस्थलमें संयोगनामका सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होताहै कारण। द्रव्यमें रहनेवाले गुण कर्म्म या जातिके प्रत्यक्षस्थलोंमें संयुक्तसमवाय नामक सम्बन्ध सन्निकर्ष होता है। जैसे पुस्तकमें, नील, पीत आदि गुण और क्रिया तथा जातियोंका प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्षसे होताहै, क्योंकि इन्द्रिय संयुक्त होती पुस्तक, और उसके साथ अर्थात् उसमें समवायनामक सम्बन्ध होताहै गुण कर्म्म जातियोंका। यदि गुण या कर्म्ममें रहनेवाली किसी भी जातिका प्रत्यक्ष कियाजाय तो संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध सन्निकर्ष होताहै। जैसे पुस्तकमें रहनेवाले रूपमें रूपत्व जातिका

चाक्षुष प्रत्यक्ष यदि करना हो तो उक्त सन्निकर्ष होगा। क्योंकि आँखसे संयुक्त होगी पुस्तक उसमें समवाय सम्बन्ध होताहै रूपका, अतः समवेत होगा रूप, उसमें समवाय सम्बन्ध होता-है, रूपत्वका। इसीप्रकार अन्यत्रभी समझना चाहिए। शब्दका प्रत्यक्ष समवाय सन्निकर्षसे होताहै। क्योंकि कानहै आकाश और शब्द (गुण) उसमें समवाय सम्बन्धसे रहताहै। शब्दत्वके प्रत्यक्षस्थलमें कानका उसके साथ समवेत-समवाय नामक सन्नि-कर्ष होगा। क्योंकि कानरूप आकाशमें समवाय सम्बन्धसे रहनेके कारण शब्द होताहै समवेत, और उसमें समवायनामक सम्बन्धसे रहता है शब्दत्व।

किसीभी अभावके प्रत्यक्षमें "विशेष्यविशेषणभाव" सन्निकर्ष कारण होताहै। विशेष्य-विशेषणभावको दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। जैसे विशेष्यभाव और विशेषणभाव, विशेष्य-भावका अर्थहै विशेष्यता और विशेषणभावका अर्थहै विशेष-णता। इन दोनोंको भी छः छः भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। जैसे संयुक्तविशेषणता, संयुक्तसमवेत-विशेषणता, संयुक्तसमवेत-समवेतविशेषणता, श्रोत्रविशेषणता, समवेतविशेषणता, समवेत-समवेत विशेषणता। संयुक्तविशेष्यता, संयुक्तसमवेतविशेष्यता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता, श्रोत्रविशेष्यता, समवेतविशेष्यता, और समवेतसमवेतविशेष्यता। किसी भी द्रव्यमें यदि किसीभी अभावका प्रत्यक्ष होगा तो उसकेलिए संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष-की अपेक्षा होगी। जैसे घरमें यदि पुस्तकका अभाव देखाजाय तो संयुक्तविशेषणता सन्निकर्षकी अपेक्षा होगी, क्योंकि आँखसे संयुक्त घरमें पुस्तकका अभाव विशेषण होताहै। यदि घरमें रहने-वाले किसीभी गुण कर्म्म या जातिमें किसीभी अभावका प्रत्यक्ष

करना हो तो संयुक्तसमवेतविशेषणताकी अपेक्षा होगी। जैसे यदि यह ज्ञान कियाजाय कि "गृहरूप पुस्तकाभाववाला है" तो संयुक्तसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्योंकि आँखसे संयुक्त होताहै गृह, और उसमें समवेतहुआ उसका रूप, उसमें विशेषण होगा पुस्तकाभाव, विशेषणता जायेगी पुस्तकाभावमें। यदि गृह-रूपमें रहनेवाले रूपत्वमें पुस्तकाभावको विशेषण बनाकर ज्ञान कियाजाय जैसे "गृह-रूपत्व पुस्तकाभाववाला है" तो संयुक्त-समवेतसमवेत-विशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्योंकि आँखसे संयुक्त होगा गृह, उसमें समवेत होगा उसका रूप, फिर उसमें विशेषण होगा पुस्तकाभाव, विशेषणता जायगी पुस्तकाभावमें। यदि शब्दके अभावका प्रत्यक्ष करना होगा तो "श्रोत्र-विशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्योंकि श्रोत्रहै कर्णच्छिद्रवर्त्ती आकाश, उसमें विशेषण होगा शब्दाभाव। यदि शब्दमें किसीभी वस्तुके अभावका प्रत्यक्ष करना हो, तो समवेतविशेषणता नामक सन्निकर्ष होगा। क्योंकि कानमें समवेत अर्थात् समवायसम्बन्धसे रहनेवाला होगा शब्द, और उसमें विशेषण होगा वह अभाव। यदि शब्दत्वमें किसीके अभावको विशेषण बनाकर उसका प्रत्यक्ष किया जाय तो समवेतसमवेतविशेषणता नामक सन्निकर्ष होगा। क्योंकि कानमें समवेत होगा शब्द, उसमें समवेत होगा शब्दत्व, उसमें विशेषण होगा वह अभाव, इसका उदाहरण "शब्दत्व पुस्तका-भाववालाहै" एतादृश ज्ञानको समझना।

जब अभावको विशेषण न बनाकर, विशेष्य बनाकर प्रत्यक्ष कियाजाय तो "विशेष्यता" सन्निकर्ष होगी। जैसे "घरमें घटा-भावहै" एतादृश प्रत्यक्षस्थलमें संयुक्तविशेष्यता नामक सन्निकर्ष होगा, क्योंकि यहाँ चक्षुसंयुक्त होगा घर जो कि विशेषणहै, और उसका विशेष्य होगा घटाभाव। इसीप्रकार "गृह-रूपमें घटाभाव

है" एतादृश ज्ञानस्थलमें संयुक्तसमवेतविशेष्यता, 'गृहरूपत्वमें घटाभावहै" एतादृश ज्ञानस्थलमें संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता, "कानमें शब्द नहींहै" यहाँ श्रोत्र विशेष्यता, "शब्दमें रूप नहींहै" एतादृश ज्ञानस्थलमें श्रोत्रसमवेतविशेष्यता, "शब्दत्वमें रूप नहींहै" एतादृश ज्ञानस्थलमें श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेष्यता-सन्निकर्ष कारण होंगे, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ द्रव्यमें अभावोंका ज्ञान आपामरसाधारण होताही है। तदपेक्षया अल्प मात्रामें गुण और कर्म्मको आश्रय करके भी अभावका प्रत्यक्ष होताहै लोगोंको। जाति आदिको आश्रय बनाकर अभावका प्रत्यक्ष तो पदार्थविवेचनरसिकोंको ही प्रायः होता है। पूर्ववर्त्ती आचार्य्योंने कहा है कि अभावको अधिकरण बनाकर यदि अभावान्तरका प्रत्यक्ष कियाजाय तो विशेषणता एवं विशेष्यताओंके प्रभेद अनन्त होंगे। जैसे "घरमें रहनेवाला घटाभाव पटाभाववाला है" ऐसा यदि प्रत्यक्ष कियाजाय तो "चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणता" सन्निकर्ष कारण होगा। इसीप्रकार और भी बढ़ा-लेना चाहिए।

संयोग संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्षोंके बीच संयोग केवल चक्षु त्वक् मन इन तीनोंसे होनेवाले प्रत्यक्षोंमें सन्निकर्ष बनेगा। संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय ये दोनों सन्निकर्ष कानको छोड़कर अन्य सभी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षोंमें अपेक्षित हो सकते हैं। समवाय और समवेतसमवाय ये दोनों कानसे प्रत्यक्षस्थलमें ही सन्निकर्ष होते हैं। विशेष्यविशेषणभावके अन्दर श्रोत्र-विशेषणता समवेतविशेषणता, समवेतसमवेतविशेषणता, एवं इसीप्रकारकी तीन विशेष्यताएँ केवल कानसे होनेवाले प्रत्यक्षोंमें अपेक्षित होंगी। अन्य

सभी विशेषणताएँ एवं विशेष्यताएँ कानसे अतिरिक्त किसी इन्द्रिय-से जात प्रत्यक्षमें अपेक्षित हो सकती हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि उक्तप्रकार विशेषणताएँ एवं विशेष्यताएँ अति परम्परासम्बन्धस्वरूप होनेके कारण सन्निकर्ष नहीं हैं। किसीभी अभावका प्रत्यक्षात्मक-ज्ञान नहीं होता। अभावका ज्ञान आनुपलब्धिक होता है। अर्थात् ज्ञानविषय वह अभाव जिसवस्तुका होताहै उसकी अनुपलब्धिसे ही उस अभाव-का ज्ञान होताहै, अतः अनुपलब्धि स्वतन्त्र एक प्रमाणहै। उसीके सहारे प्राणी कहीं किसीभी अभावको समझता है। जैसे घरमें जब घड़ा नहीं देखतेहैं तब घड़ेके अभावका ज्ञान होताहै। मनुष्य इसप्रकार सोचताहै कि "घरमें यदि घड़ाहोता तो मैं उसे देखता, नहीं देखरहाहूँ अतः इस घरमें घड़ेका अभावहै। अतः अनुप-लब्धि एक स्वतन्त्र प्रमाणहै। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि इन्द्रियोंसे ही अभावका प्रत्यक्षात्मक-ज्ञान हो सके तो उस अभाव-ज्ञानको एक स्वतन्त्र "आनुपलब्धिक" नामक प्रमा-ज्ञान क्यों मानाजाय? और उसकेलिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण भी अतिरिक्त क्यों माना जाय? हाँ अभाव-प्रत्यक्ष-स्थलमें उक्तप्रकार अनुपलब्धिको इन्द्रियोंका सहायक मानना चाहिए। क्योंकि अनुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता। अभाव-ज्ञान केवल प्रत्यक्षरूप नहीं होताहै, अनुमिति और शाब्दबोधस्वरूप भी। क्योंकि अतीन्द्रिय-वस्तुके अभावोंको इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। कुछलोगोंका कहनाहै कि प्रत्यक्षको शब्दज और अशब्दज इन दो भागोंमें भी विभक्त करना चाहिए। जहाँ पदार्थ सन्नि-कृष्ट होताहै और कोई वक्ता उसे कहताहै कि "यहाँ यह वस्तुहै" तो तादृश-स्थलमें होनेवाला प्रत्यक्ष शब्दज होता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहींहै। वहाँ केवल शब्दसे वस्तुकी विशृंखल-

रूपसे उपस्थितिमात्र होकर रहजाती वाक्यार्थबोध नहीं होता। यही कारणहै कि "इसे मैं देख रहाहूँ" इसीप्रकार ज्ञान होताहै "इसे मैं सुन रहाहूँ।" इसप्रकार अनुभव लोगोंको नहीं होता। शब्दसुननेके अनन्तर जैसे "मैं सुन रहाहूँ" यह अनुभव होताहै, शाब्दबोधके अनन्तर भी उसीप्रकार होताहै। अतः यदि चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ विषयसन्निकर्षस्थलमें भी शाब्दबोध होता तो अवश्यही "मैं सुन रहाहूँ" ऐसा अनुभव होता किन्तु ऐसा होता नहीं।

प्रत्यक्षको नित्य और अनित्य इन दो भागोंमें भी विभक्त किया जासकता है। भगवान् जो सर्वदा प्रत्येक वस्तुको देखता रहताहै, वह उसका देखनाहै नित्य-प्रत्यक्ष, और अन्य कोई भी प्राणी किसीभी इन्द्रियसे वस्तुको जो देखताहै, वह देखनाहै। अनित्य-प्रत्यक्ष। इस विभाजनके अनुसार सामान्यतया प्रत्यक्ष उसे कहाजायगा कि जिस ज्ञानके प्रति इन्द्रियोंको छोड़कर अन्य कोई करण अर्थात् असाधारण कारण नहो, वह ज्ञान होताहै प्रत्यक्ष। उक्त नित्य प्रत्यक्षके प्रति कोई करण नहीं होता। अतः उसके प्रति इन्द्रियाँभी करण नहीं होतीहैं। अनित्यप्रत्यक्षमें इन्द्रियाँही करण होतीहैं। प्रत्यक्षके प्रति शब्द करण नहीं हो-सकता यह बात बतलायी जाचुकीहै। इसप्रकार विभाजनके पक्षमें उक्त घ्राणज रासन आदि प्रत्यक्ष अनित्य-प्रत्यक्षके प्रभेद होंगे।

प्रत्यक्षका अन्यप्रकारसे विभाजन यों होताहै कि, लौकिक-प्रत्यक्ष और अलौकिक-प्रत्यक्ष इस रूपसे प्रत्यक्ष दो प्रकार है। जिनमें लौकिक-प्रत्यक्ष उन प्रत्यक्षोंको कहा जायगा, जिनमें उक्त संयोग, संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्षोंकी अपेक्षा हो। जैसा-कि पहले दिखाया जाचुकाहै। अलौकिक-प्रत्यक्ष उसे कहा

जायगा जो कि उक्त संयोग आदि सन्निकर्षोंसे नहीं उत्पन्न होगा। अलौकिक प्रत्यक्षको फिर तीन भागोंमें विभक्त समझना चाहिए। जैसे धर्मप्रत्यक्षमूलक धर्मविशिष्ट धर्मी-समुदायका प्रत्यक्ष, और विशेषणस्मरणमूलक विशिष्टप्रत्यक्ष और योगज। प्राच्य-पदार्थ शास्त्रियोंने प्रथमको सामान्यलक्षणाजन्य और द्वितीयको ज्ञानलक्षणाजन्य शब्दसे कहा है। किसी एक घड़ेको देखकर जो भावी एवं अतीत, दूरवर्ती एवं निकटवर्ती सभी घड़ोंको जो "सारे घट" इस प्रकार लोग समझते हैं, वह प्रत्यक्ष प्रथम प्रकार है। क्योंकि एक घड़ेके साथ आँख जुटनेपर जो घटत्व उस घड़ेमें देखा जाता है वही संसारके समग्र घटोंमें रहता है, अतः घटत्व-स्वरूपसामान्यका अर्थात् सकलघटसाधारण-धर्मका जब ज्ञान होता है, तो वही ज्ञान असाधारण-कारण बनकर स्वविषयघटत्वके आश्रयोभूत समग्रघटका प्रत्यक्ष करा देता है। द्वितीय वह होता है जहाँ कि यदि कोई दूरसे चन्दनकाष्ठ ले जाता-है तो नाकके साथ दूरता-प्रयुक्त सम्बन्ध न होनेपर आँखसे ही वहाँ "यह चन्दन सुगन्धित है" इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है, वहाँ सुगन्धका स्मरण ही सुगन्धविशिष्टचन्दनके प्रत्यक्षमें करण अर्थात् असाधारण-कारण होजाता है। तृतीय अलौकिक-प्रत्यक्ष वह है जोकि योगियोंको अबाधितरूपसे पदार्थोंका साक्षात्कार होता है। कुछलोगोंने "प्रातिभ" नामक भी एकप्रकार प्रत्यक्ष माना है। वस्तुतः उसे "योगज" के ही अन्तर्गत मानना चाहिए। क्योंकि छोटे बच्चोंको जो भावी पदार्थोंका ज्ञान होता है जैसे—पूछनेपर छोटी बच्ची कहती है कि "भाई आज आयेगा" और ठीक आता भी है, वहाँ मानना होगा कि विशुद्ध-अन्तःकरण-गत-संस्कार ही असाधारण कारण होता है, और योगजस्थल-में भी यही बात होती है। क्योंकि योगसे योगियोंके अन्तः-

करण विशुद्ध होनेपर ही तद्गतसंस्कारके सहारे योगज-प्रत्यक्ष भी होताहै । उक्त अलौकिक-प्रत्यक्षोंके अन्दर प्रथम होताहै सामान्यलक्षणाजन्य-प्रत्यक्ष और द्वितीय ज्ञानलक्षणाजन्य-प्रत्यक्ष । विशेषणका ज्ञान होता है विशिष्ट-प्रत्यक्षके लिए सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष, और विशेषणका स्मरण होताहै विशेषणप्रत्यक्षके लिए ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष ।

—:o:—

अनुमिति-ज्ञान

प्राणियोंकी जीवनयात्रामें प्रत्यक्षज्ञानसे कहीं अधिक अपेक्षा अनुमिति-ज्ञानकी होतीहै । क्योंकि प्राणी जो भी कुछ भावी-कार्यक्रम स्थिर करताहै वह निश्चय अनुमितिरूप ही होताहै । क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमानवस्तुका ही होसकताहै । भावी-वस्तुओंका प्रत्यक्ष नहीं होसकता । किसी कार्यमें प्रवृत्ति भावी-फलका निर्णय करके ही होतीहै । यदि निर्णय नहीं होगा तो कभी किसी कार्यकेलिए असंदिग्धरूपसे प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । और जब प्राणी प्रवृत्त ही नहीं होगा तो सफलता कहाँसे मिलेगी ? कुछ दार्शनिकोंका मत है कि लोगोंकी किसी भावीफलके लिए प्रवृत्ति सम्भावनामात्रसे होतीहै, अतः प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अनुमिति नामक अनुभवात्मक ज्ञान नहीं मानना चाहिए । किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि सम्भावना आखिर क्या होगी ? सन्देहको ही तो दूसरे शब्दोंमें सम्भावना कहा जायगा ! एक किसी धर्मीमें विद्यमान एवं अविद्यमान विरोधी अनेक वस्तुओंके ज्ञानका ही नाम तो सन्देह है ! ये अनेक विरोधी वस्तुएँ जोकि सन्देहमें विशेषणरूपसे विषय होतीहैं अन्यत्र अवश्य देखी हुई होतीहैं उनका प्रकृत धर्मीमें ज्ञान होताहै । जो इसप्रकार सन्देह

मानेगा, जिसे वह सम्भावना नामसे ही क्यों न पुकारे? उसे अनुमिति माननेमें भी हिचक नहीं होनी चाहिए। क्योंकि अनुमिति-स्थलोंमें भी तो यही बात होतीहै कि, पहले कभी देखे गये किसी पदार्थको विशेषण बनाकर प्रकृत धर्मीमें भान होताहै। साथही और एक बात यह भी है कि यह सन्देह, जिसे कि वह सम्भावना कहेगा अवश्यही प्रत्यक्ष होगा, किन्तु वह प्रत्यक्ष क्या आँख आदि बाह्य इन्द्रियोंसे होगा या अन्तरिन्द्रिय मनसे? कुछ भी कहना, अनुमिति नहीं माननेवालेके लिए कठिन हो आयेगा। क्योंकि किस प्रमाणके आधारपर पहले बाह्य किंवा आन्तर इन्द्रियोंका अस्तित्व मानेंगे? आँख आदि बाह्य इन्द्रियाँ या मन सभी तो अतीन्द्रिय होतेहैं। इन्हें प्रत्यक्षसे कैसे देखा जासकेगा? यदि नहीं देखा जासकेगा तो वे इन्द्रियाँही असिद्ध हो जायेंगी, फिर उनसे भावी वस्तुकी संभावना और उनसे प्राणियोंकी प्रवृत्ति, और उससे फिर अभिमतफलका लाभ ये सभी बातें दूर चली जाती हैं। इतनाही नहीं कोईभी प्रबुद्ध-व्यक्ति यदि किसीको उपदेश देने बैठताहै तो उपदेशके पहले उपदेष्टव्य-व्यक्तिकी मनोगतिका ज्ञान करलेताहै कि इसके हृदयकी परिस्थिति क्याहै? यह क्या समझना चाहताहै? इत्यादि। यह प्रत्यक्षतः नहीं देखा जा सकता कि दूसरा क्या चाहताहै? दूसरेकी मानसिक स्थिति अभी कैसीहै? उपदेष्टव्यकी मानसिक-परिस्थितिको न समझकर उपदेश होनेपर अनभिमत पदार्थका भी उपदेश चल पड़ेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि श्रोता उस उपदेशकको पागल समझ बैठेगा। उपदेश्य-उपदेशक-भाव ही चौपट हो जायेगा, सारी शिक्षा ही अस्त-व्यस्त हो बैठेगी, बुद्धि-विकासका मार्ग ही अवरुद्ध होजायगा। अतः अनुमिति नामक अनुभवज्ञान माननाही होगा। इस सम्बन्ध

में बहुत सी युक्तियाँ दी जासकतीहैं किन्तु विस्तारभयसे मैं इतना ही यहाँ लिखरहाहूँ।

इस अनुमिति-ज्ञानकी, प्रक्रिया यह है—पहले अनुपाता प्राणी, दो वस्तुओंको अव्यभिचरितरूपसे अर्थात् नियतरूपसे सहचरित देखताहै, याने एक आश्रयमें विद्यमान देखताहै। अनन्तर उन दो वस्तुओंसे एकको किसी आश्रयमें देखकर द्वितीय तत्सहचरित-वस्तुका निश्चयात्मक ज्ञान करताहै, वही होतीहै अनुमिति। यद्यपि यह इस ज्ञानकी प्रक्रिया स्मृतिकी प्रक्रियासे मिलती जुलती मालूम पड़तीहै, फिरभी अनुमितिको स्मृति इसलिए नहीं कहा जासकता कि स्मरण केवल अतीत विषयकाहो हुआ करताहै किन्तु अनुमितिके विषय अतीत अनागत, एवं वर्तमान तीनों ही होतेहैं। अग्निसहचरित-धूमको देखकर धूमसहचरित केवल अग्निका स्मरण होनेपरभी "अग्नि पर्वतमें है" "पर्वत अग्निवाला है" इसप्रकार पर्वतसम्बद्ध अग्निविषयक स्मरण नहीं होसकता, क्योंकि अग्निके साथ होनेवाले पर्वतसम्बन्धका पूर्व-अनुभव है नहीं, अननुभूत पदार्थका कभी स्मरण होता नहीं।

अनुमिति के प्रभेद

यों तो विभिन्न प्रचीन दार्शनिकोंके अनुमिति-विभाजनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं दीख पड़ता, फिर भी आपाततः कुछ अन्तर प्रतीत होताहै। जैसे कुछ दार्शनिकोंका कहनाहै कि अनुमिति दोप्रकारहै, वीत और अवीत। अवीत अनुमितिको ही शेषवत् अनुमिति, परिशेषानुमिति इन नामोंसे कहाजाताहै और वीतानुमिति, "पूर्ववत्" अनुमिति "सामान्यतो दृष्ट" अनुमिति इन दो-भागोंमें विभक्त कीजातीहै। परिशेषानुमिति वह होतीहै, जहाँ सम्भावित इतरकी व्यावृत्तिके द्वारा परिशिष्ट-वस्तु अनुमेय होतीहै।

जैसे शब्द, पृथिवी-जल-तेज-वायु-काल-दिक् आत्मा और मनका गुण नहीं होसकता, अतः उसका आश्रय कोई स्वतन्त्र द्रव्य है, इस-प्रकार जो आकाश द्रव्यकी अनुमिति होती है, वह होती है परि-शेषानुमिति। "पूर्ववत्" अनुमिति वह होती है जहाँ अनुमेय-विशेष और अनुमापक हेतुविशेष प्रकृत अनुमितिके पहले किसी आश्रयमें देखेहुए होतेहैं। जैसे रसोई घरमें धूम और अग्निको पहले देखकर पीछे दूरसे पर्वतसे उठती हुई धूमशिखाको देखकर उससे उस पर्वतमें अग्निकी अनुमिति होती है। इसे "पूर्ववत्" इसलिए कहा जाता है कि अनुमाता पूर्व अर्थात् रसोई-घर जैसे धूमवाला था, तो अग्निवालाभी था, तद्वत् यह पर्वतभी धूमवाला है तो अग्निवाला अवश्य है, इसप्रकार भान करता है। "सामान्यतो दृष्ट' वह अनुमिति कहलाती है जहाँ कि प्रकृत अनुमिति-के पहले साध्यका विशेषतः अर्थात् विशेषधर्मयुक्तरूपसे भान नहीं हुआ होता है, हाँ कथंचित् सामान्यरूपसे उसका भान हुआहोता-है। आँख आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं की अनुमिति "सामान्यतो दृष्ट" अनुमिति कहलाती है। क्योंकि अनुमिति के पहले चक्षुष्ट्व-किंवा इन्द्रियत्व आदि विशेष-धर्मयुक्तरूपसे भान नहीं रहता, हाँ इन्द्रिय एवं कुठार आदि-साधारण "करणत्वरूप सामान्यधर्म रूपसे इन्द्रियोंका ज्ञान पहले रहता है। चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अनुमिति यों होती है कि—रूप-रस आदि गुणोंके ज्ञान किसी न किसी करणसे होते हैं क्योंकि ज्ञान भी छेदन आदि क्रियाके समान धात्वर्थरूप क्रिया है। इस अनुमितिमें करण रूपसे आँख आदि इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है, चक्षुष्ट्व इन्द्रियत्व आदि विशेषधर्मरूपसे नहीं, अतः ऐसी अनुमिति "सामान्यतो दृष्ट" कहलती है।

१ न्यायसूत्रकार अक्षपाद गौतम एवं भाष्यकार वात्स्यायन-

प्रभृति प्राचीननैयायिकोंने "वीत" और "अवीत" की चर्चा नहीं की है। "पूर्ववत्" "शेषवत्" और "सामान्यतोदृष्ट" इन भेदोंसे विभाजन किया है। इन लोगोंके मतमें "पूर्ववत्" का अर्थ है कारणलिङ्गक अनुमिति, "शेषवत्" का अर्थहै कार्यलिङ्गक अनुमिति, और "सामान्यतोदृष्ट" का अर्थ है अनुभयलिङ्गक-अनुमिति। विलक्षण नदीवृद्धि देखकर भूतवृष्टिकी "वृष्टि हुई है" ऐसी अनुमिति होती है कार्यलिङ्गक, क्योंकि वृष्टिहै कारण और नदीवृद्धिहै कार्य। कार्यको ही लिङ्ग अर्थात् अनुमापकहेतु बनाकर कारणीभूत मेघको देखकर भावी वृष्टिकी "वृष्टि होगी" इसप्रकार होनेवाली अनुमिति कहलातीहै शेषवत् अनुमिति, क्योंकि कारण-के अनन्तर होनेसे कार्य कहलाता है "शेष", और वही होताहै उक्त अनुमितिमें ज्ञापकहेतु। "सामान्यतोदृष्ट" अनुमिति वह कहलातीहै जहाँ अनुमेय और अनुमापक कार्यकारणभावापन्न नहीं होते। जैसे, सींघ देखकर उससे "यह पशुहै" इसप्रकार पशुत्वकी अनुमिति। क्योंकि यह ज्ञापक शृङ्गित्व एवं ज्ञाप्य पशुत्वके अन्दर कोई किसीका कार्य या कारण नहींहै, अतः यह अनुमिति अनुभयलिङ्गक होतीहै।

यहाँ नव्य—नैयायिकोंकी व्याख्या कुछ औरही है। उनका कहनाहै कि "पूर्ववत्" का अर्थहै केवलान्वयी और "शेषवत्" का अर्थ है "केवलव्यतिरेकी" और "सामान्यतोदृष्ट"का अर्थ है "अन्वयव्यतिरेकी"। इसप्रकार अनुमिति तीन तरहकीहै "केवला-न्वय्यनुमिति" "केवलव्यतिरेक्यनुमिति" और अन्वयव्यतिरेक्य-नुमिति"। केवलान्वय्यनुमिति" वह होताहै जहाँ अनुमेय और अनु-मापक दोनोंका या केवल अनुमेयका अथवा केवल अनुमापकका अभाव नहीं मिलनेके कारण व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञान न हो, सिर्फ अन्वयव्याप्तिका ज्ञान हो, और उसीसे परामर्श नामक ज्ञान होकर

अनुमिति होतीहो। जैसे "यह घट अभिधेयहै क्योंकि प्रमेयहै"। यहाँपर "यह घट अभिधेयहै" यह अनुमति है केवलान्वय्यनुमिति। क्योंकि संसारकी सारी वस्तुएँ अभिधान-योग्य अर्थात् कथनयोग्य होनेके कारण, अभिधेय हैं। अतः व्यतिरेकव्याप्ति-ज्ञान नहीं होसकता, केवल अन्वयव्याप्तिज्ञान ही होता है। अनुमापकमें अनुमेयका अव्यभिचरित-साहचर्य्यही है अन्वयव्याप्ति, जिसकी चर्चा पहले करचुके हैं। और अनुमेयके अभावमें अनुमापकके अभावका अव्यभिचरित-साहचर्य्यका नाम है "व्यतिरेक व्याप्ति"। जैसे "पर्वत वह्निवालाहै क्योंकि धूम-शिखा उठ रहीहै" यहाँपर जहाँ जहाँ अग्निका अभाव होगा वहाँ वहाँ धूमका भी अभाव होगा, अतः अग्निके अभावमें धूमके अभावका अव्यभिचरित साहचर्य्यहै, यहीहै "व्यतिरेकव्याप्ति"। किन्तु प्रकृत "पर्वत अग्निवालाहै" यह अनुमिति केवल व्यतिरेक्यनु-मिति नहीं है। यहाँ व्यतिरेकव्याप्तिके समान अन्वयव्याप्तिभी अक्षुण्ण है। क्योंकि जहाँ जहाँ धूमहै वहाँ वहाँ अग्नि है, यह अनुमापक-धूमगत अनुमेय अग्निका अव्यभिरितसहचारका ज्ञानभी अबाधित है। अतः "पर्वत अग्निवालाहै क्योंकि इससे धूमशिखा उठ रही है" यहाँपर "पर्वत अग्निवालाहै" यह केवलव्यतिरेक्यनुमिति नहीं, अपितु अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति है। जहाँ अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों पायी जातीहैं वह अनुमिति अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति होतीहै। यदि किसीभी धर्मीमें अपनेसे भिन्न सारी वस्तुओंके भेदकी अनुमिति कीजाय, तो वह केवलव्यतिरेक्यनुमिति होगी। जैसे "घट-वस्तु घटभिन्न वस्तुओंसे भिन्नहै क्योंकि विलक्षण आकारवालाहै" यहाँ "घट घटभिन्नवस्तुसे भिन्नहै" यह अनुमिति होगी केवलव्यक्तिरेक्य-नुमिति। क्योंकि घटभिन्नभेद केवल घटमेंही होनेके कारण

विलक्षण आकाररूप अनुमापकमें उसका अव्यभिचरित-साहचर्यरूप उसकी अन्वयव्याप्ति कहीं दिखलायी नहीं जासकती, उसका ज्ञान नहीं होसकता। अनुमितिके पहले घटमें उस अनुमेय "घटभिन्नभेदका निर्णय नहीं रहता, जो कि वहाँ अन्वय-सहचारका ज्ञान किया जासके। क्योंकि प्रकृत धर्मीमें प्रकृत अनुमेयका निश्चय प्रकृत अनुमिति के प्रति बाधक होता, उस निश्चयका अभाव उस अनुमितिके प्रति कारण होताहै, जिसे नव्य-नैयायिक लोग "पक्षता" नाम से पुकारतेहैं। अतः उक्त "घट घट-भिन्नभिन्न है" यह अनुमिति अन्वय्यनुमिति न होकर केवल-व्यतिरेक्यनुमिति होगी। क्योंकि पट-मठ आदिमें जहाँ जहाँ घटभेद होनेके कारण घटभिन्नभेद नहींहै, वहाँ वहाँ विलक्षण घटगत आकार भी नहीं है इसप्रकार व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान होताहै और उससे उक्त अनुमिति होतीहै।

इन तीन प्रकार अनुमितिके अव्यवहित-पूर्व उत्पन्न होने-वाले एवं इन अनुमितियोंके प्रति कारणीभूत परामर्श तीनप्रकार होतेहैं। अन्वयपरामर्श, व्यतिरेक-परामर्श और अन्वय-व्यतिरेक-परामर्श। परामर्शको अनुमितिके प्रति कारण इसलिए माना जाताहै कि, अनुमेयके व्याप्य होनेवाले अनुमापकको प्रकृत धर्मीमें समझने-के कारणही प्रकृतधर्मीमें अनुमेय स्वरूप व्यापक वस्तुका निश्चयात्मक अनुमिति होतीहै। क्योंकि जहाँ व्याप्य-वस्तु रहतीहै वहां व्या-पकवस्तु अवश्य रहतीहै। "अनुमेयके प्रति व्याप्यहोनेवाला अनुमापक प्रकृत धर्मीमें है" इसी ज्ञानका नामहै परामर्श। कुछ-लोग अखण्ड एक ज्ञानरूपसे परामर्शको अनुमितिके प्रति कारण नहीं मानते, किन्तु "अनुमापक प्रकृत अनुमेयका व्याप्यहै" और "वह व्याप्यभूत अनुमापक प्रकृत-धर्मीमें रहताहै" इसप्रकार ज्ञानकी अपेक्षा अनुमितिके प्रति वे भी मानतेहैं।

यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये अनुमितिके प्रभेद उन्हीं लोगोंके मतमें होतेहैं, जो लोग "अर्थापत्ति" को अतिरिक्त प्रमा नहीं मानतेहैं। क्योंकि शेषवत् अनुमितिका ही अपर नाम अर्थापत्ति है। सारकथा यहकि कुछलोग केवल "अन्वयव्यतिरेक्यनुमिति" नामक एक ही अनुमिति मानतेहैं। परन्तु यह उचित इसलिए नहीं मालूम पड़ताहै कि, जब अनुमितिके भीतरही अर्थापत्तिकी गतार्थता होसकतीहै फिर उसे अतिरिक्त "प्रमिति" और उसकेलिए अर्थापत्ति नामक स्वतन्त्र प्रमाण माननेका प्रयोजन क्या ?

———

अनुमितिके अन्य प्रभेद

अन्यप्रकारसे अनुमितिका विभाजन करें तो अनुमिति दो प्रकार होतीहै स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति। स्वार्थानुमिति वह होतीहै जहाँ उपदेश्य-उपदेशक-भावका प्रयोजन नहीं होताहै, अनुमाता अनुमापक-हेतुको प्रकृतधर्मीमें देखकर स्वयं अनुमेयकी उस धर्मीमें अनुमिति करडालताहै। जैसे कोईभी मनुष्य पर्वत-से उठनेवाली धूमशिखाको देखकर "यह पर्वत अग्निवालाहै" इसप्रकार अनुमिति करताहै। एतादृश अनुमिति कहलातीहै "स्वार्थानुमिति"। "स्वार्थ" और "परार्थ" यहांपर 'अर्थ" शब्दका अर्थहै अर्थित, फलतः स्वार्थित अनुमिति होतीहै स्वार्थानुमिति और परार्थित अनुमिति होतीहै परार्थानुमिति। यह द्वितीय अनुमिति इसप्रकार होतीहै कि, कोई भी मनुष्य या प्राणी, अनुमापकसे प्रकृत अनुमेयकी अनुमिति करके दूसरेको अनुमिति करानेके लिए वाक्य-प्रयोग करताहै, जिसवाक्यकी दार्श-

निकलोग कहतेहैं "न्याय"। उस न्यायवाक्यको सुनकर श्रोताको परामर्श होकर अनुमिति होतीहै, वहीहै परार्थानुमिति। फलतः न्यायवाक्यके अधीन होनेवाली अनुमिति होतीहै परार्थानुमिति। जितने वाक्योंको सुनकर श्रोताको परामर्श होकर अनुमिति होतोहै, उतने वाक्योंका ही अपर नाम होताहै "न्याय"। जैसे कोई मनुष्य धूमशिखासे पर्वतमें स्वयं अग्निका निश्चय करके दूसरेको कहताहै कि (१) पर्वत अग्निवालाहै (२) क्योंकि इससे धूमशिखा उठरहीहै, (३) जो जो धूमवाला होताहै, वह अग्निवाला अवश्य होताहै, जैसे पाकगृह, (४) यह पर्वतभी धूमवालाहै, (५) अतः अग्निवालाहै। यही है न्याय, यह पांच खण्ड-वाक्योंका समुदायरूप होताहै। अतः इसके अवयव अर्थात् अंश पांच होतेहैं। प्रथम वाक्यको दार्शनिक लोग कहतेहैं "प्रतिज्ञा" दूसरेको कहतेहैं "हेतु" तीसरेको "उदाहरण", चौथेको "उपनय", और पांचवेंको "निगमन"। यहाँ कुछ दार्शनिकोंका कहनाहै कि (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु और (३) उदाहरण इन तीन वाक्योंसेही किंवा (१) उदाहरण (२) उपनय (३) निगम इन तीन वाक्योंसेही श्रोताको अनुमेयनिश्चयात्मक अनुमिति हो जातीहै। अतः तीनही अवयव मानकर तत्समुदायवाक्यको ही "न्याय" कहना चाहिए, पञ्चावयव-वाक्यको नहीं। कुछलोग केवल प्रतिज्ञा-वाक्य और हेतुवाक्य इन दोनोंको ही न्यायावयव मानतेहैं। अति प्राचीन कुछदार्शनिक दशावयव-वादी थे, अर्थात् इन पाँच वाक्यात्मक अवयवों के अतिरिक्त अवाक्यात्मक भी पाँच अवयव मानते थे। उन अवाक्यात्मक अवयवोंको वे (१) जिज्ञासा (२) संशय (३) प्रयोजन (४) शक्यप्राप्ति और (५) संशयव्युदास कहतेथे। किन्तु परवर्त्ती पञ्चावयव-

वादी दार्शनिकोंने अनुमापकवाक्य किंवा उसके अंश न होनेके कारण, उन्हें न्यायावयव नहीं माना। जो कुछभी हो अवयवोंकी संख्यामें विप्रतिपत्ति होनेपरभी न्यायसाध्य पदार्थानुमितिके -सम्बन्धमें प्रत्यक्षमात्र-प्रामाण्यवादीको छोड़कर सभी दार्श-निक एकमतहैं। ध्यान रखना चाहिए कि "अर्थापत्ति" स्वतन्त्र प्रमिति नहींहै, अनुमितिके अन्दरही उसका अन्तर्भाव हो जाताहै। उसीप्रकार "साम्भविक" ज्ञानभी अनुमितिही है, स्वतन्त्र प्रमिति नहीं, और अतएव "सम्भव" स्वतन्त्र प्रमाणभी नहीं। "साम्भ-विक" ज्ञान यह कहलाताहै जैसे—यदि कोई यह समझताहै कि "ये हजार आम हैं" तो अनायास वह यह समझलेताहै कि "तब इसके अन्दर सौ आम जरूर हैं" यह सौ संख्याका निश्चय है साम्भविक। और किसीको देखा या सुना कि वह मोटाहै किन्तु दिनको खाता नहीं, तो अनायास यह निश्चय होजाता कि "वह रातको खाताहै"। यह निश्चयहै अर्थापत्ति। उक्त साम्भ-विक एवं यह अर्थापत्ति दोनोंही तत्त्वतः अनुमापकसे अनुमेय-निश्चयात्मक अनुमिति ही हैं। क्योंकि सहस्र-संख्या, सौ संख्याके विना नहीं होसकती, और मोटापन भी खाये विना नहीं हो-होसकता, जैसे आगके विना धूम नहीं हो सकता। अतः धूमसे आगकी अनुमिति होतीहै उसीप्रकार सहस्रसंख्यासे सौ संख्याकी एवं दिनभोजनरहित-मोटापनसे रात्रिभोजनकी अनुमिति होनेमें कोई बाधा नहींहै।

कुछ आक्षेपक यह कहकर अनुमितिको स्वतन्त्र प्रमिति होनेसे रोकना चाहतेथे कि अनुमिति कहीं कहीं मिथ्या होतीहै, अतः उसे प्रमिति नहीं मानना चाहिए। इसके उत्तरमें प्रवज्ञ दार्शनिकोंने यह कहकर उसे प्रमिति मनाथा कि कोई मनुष्य चोर होताहै इससे

सब मनुष्योंको चोर नहीं माना जायगा। इसीप्रकार किसी अनुमितिके मिथ्या होनेसे सारी अनुमितियाँ क्यों मिथ्या होंगी? जो मिथ्या नहीं होंगी उन्हें "प्रमिति पदसे गिराया नहीं जासकता, अतः अनुमिति स्वतन्त्र प्रमितिहै। और अतएव अनुमान स्वतन्त्र प्रमाणहै।

जिस धर्मी अर्थात आश्रयमें अनुमेयका निश्चय किया जाताहै उसे "पक्ष" और जो अनुमेय होताहै उसे "साध्य" और जिस अनुमापकसे प्रकृत अनुमेयका निश्चयात्मक अनुमिति होतीहै, उसे "हेतु" और "लिङ्ग" दार्शनिकलोग कहा करतेहैं। जैसे "पर्वत अग्निवालाहै क्योंकि उसमें धूमहै" यहाँपर पर्वत होताहै पक्ष, अग्नि होताहै साध्य, और धूम होताहै हेतु।

अनुमापक हेतुको सत् (अच्छा) हेतु और असत् (बुरा) हेतु इसप्रकार दोभागों में विभक्त समझना चाहिये। पक्ष और सपक्षमें रहते हुए विपक्षमें न रहना एवं अबाधित तथा असत्प्रतिपक्षित होना ही है अनुमापककी सत्ता (अच्छापन) और इसमें आंशिक भीविघटन प्राप्त होनाही है असत्ता (बुरापन)। जिसमें अनुमेयका निश्चय पहलेसे ही हो वह होता है सपक्ष, और पहलेसे जिसमें अनुमेय का अभाव निश्चित हो वह होताहै विपक्ष। जिस अनुमापकका अनुमेय, पक्षमें नहीं रहता वह होताहै बाधित, और वैसा न होनेवाला अनुमापक होताहै "अबाधित"। पक्षमें प्रकृत अनुमेयके अभावकी सिद्धिके लिए यदि कोई अप्रकृत हेतु प्रतिपक्षीरूपसे उपस्थित होजाय तो प्रकृत हेतु होताहै सत्प्रतिपक्षित, और वैसा न होनेवाला होताहै असत्प्रतिपक्षित। प्रकृत अनुमापकको "सत्" (अच्छा) होनेके लिए "व्याप्ति" और पक्षधर्मता (पक्षमें रहना) के समान

"अबाधित" और "असत्प्रतिपक्षित" होना भी नितान्त आवश्यक है। "पक्षसत्त्व" और "विपक्षासत्त्व" में एक न भी हो।

उपमिति-ज्ञान

प्रत्यक्ष और अनुमितिके समान उपमितिभी एक स्वतन्त्र प्रमितिहै। इसकी प्रक्रिया यहहै जैसे "विषहरणी-बूटीके पौधे मूङ्के पौधेके समान होतेहैं" ऐसा किसीने किसीसे कहा। जब कभी उस श्रोताको दवाईके लिए उस विषहरणी बूटीकी जरूरत हुई तो जंगलमें जाकर ढूँढ़नेलगा। कहीं मूङ्के पौधेके समान पौधेको देखकर यह निश्चय कियाकि "यही विषहरणी है" यही निश्चयहै उपमिति। इसीप्रकार अन्यत्रभी समझना चाहिए। सारकथा यहकि नाम और नामी इन दोनोंमें होनेवाले "नाम नामिभाव" सम्बन्धका निश्चयही है उपमिति। एतादृश निश्चयको प्रत्यक्ष इसलिए नहीं कहा जासकता कि वह इन्द्रियसन्निकर्षमात्रसे नहीं होताहै, उपदेश तथा तत्स्मरणकीभी अपेक्षा होतीहै। प्रत्यक्षमें यहबात नहीं होतीहै। एतादृश निश्चयको अनुमिति इसलिए नहीं कहा जासकता कि कोई अनुमापक-हेतु उपस्थित नहींहै, एवं उसमें प्रकृत अनुमेय "नामनामिभाव" सम्बन्धके साथ अव्यभिचरितसाहचर्य्य आदि उक्त व्याप्तिका ज्ञान नहीं होताहै। फिर उसके विना अनुमितिकी सम्भावना कहाँ रहजातीहै? अतः उपमिति स्वतन्त्र प्रमितिहै। कुछ लोगोंका कहनाहै कि "नामनामिभावका निश्चय" उपमिति नहींहै। किन्तु "विपरीतसादृश्य निश्चय" है उपमिति। अर्थात् उपदेश सुननेके अनन्तर जंगलमें ढूँढ़नेपर उस विषहरणीके पौधेमें मूङ्के पौधेके सादृश्यका तो प्रत्यक्ष होताहै कि यह पौधा मूङ्के पौधेके समानहै, परन्तु वहाँ अविद्यमान मूङ्के पौधेमें इस विषहरणीके पौधेके सादृश्यकाभी निश्चय

होताहै, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहाजासकता। क्योंकि उस दूरवर्त्ती मूङ्के पौधेके साथ आँखका सम्बन्ध नहींहै, अतः "मूङ्के पौधे इस विषहरणी पौधेके सदृशहैं" यह निश्चय है उपमिति। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि एकमें अपरका सादृश्य-प्रत्यक्ष होनेपर अपरमें उस एकके सादृश्यकी अनुमिति ही हो-जायगी। क्योंकि सादृश्य दोनोंमें परस्पर हुआ करताहै। दूसरी बात यहहै कि विषहरणीमें तो मूङ्के सादृश्यका निश्चय अपेक्षित होताहै, क्योंकि उसके ज्ञानके विना अपेक्षित विषहरणीबूटीका निश्चय नहीं होसकता। किन्तु मूङ्में विषहरणीके सादृश्यका निश्चय तो अपेक्षित नहीं कि उसे कोई करने जाय, और उसे "उपमिति" मानकर उसकेलिए स्वतन्त्र उपमान प्रमाणतक माना-जाय।

कुछलोग उपमितिनामक प्रमिति नहीं मानते, और अतएव उपमान-प्रमाणभी नहीं मानते। उनका कहनाहै कि यदि सादृश्य-निश्चयको उपमिति कहाजाय तो यह इसलिए सङ्गत नहीं होगा कि सादृश्यका तो प्रत्यक्षही होताहै। यह भी नहीं कहा जासकता कि विषहरणीगत मूङ्के सादृश्यका प्रत्यक्ष होनेपर भी दूरवर्त्ती मूङ्के पौधेमें होनेवाले सादृश्यका तो प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि उभयगत समानधर्म ही होताहै सादृश्य, वह यदि एकगत प्रत्यक्ष हुआ तो अपरगत भी, सुतरां उसका भी प्रत्यक्ष ही होजाता, उप-मितिका प्रयोजन नहीं।

यदि यह कहा जाय कि "नामनामिभाव" स्वरूप "वाच्य-वाचक-भाव" का निश्चय उपमितिरूप होगा, तो यहभी युक्तिसङ्गत नहीं। क्योंकि उसे अनुमितिरूपही माना जासकता। सादृश्यको ही अनु-मापक हेतु बनाकर "यह विषहरणी है क्योंकि मूङ्के पौधेके समानहै," इसप्रकार अनुमिति अनायास होसकती इत्यादि। यहाँ

सादृश्यका प्रत्यक्ष ही होजाताहै, यह प्रथम अंश ठीक होनेपर भी सादृश्यको अनुमापक-हेतु बनाकर "नामनामिभाव" की अनुमिति हो जायगी, यह द्वितीय अंश ठीक नहीं कहा जासकता, क्योंकि सादृश्य उभयगत होनेके कारण मूङ्के पौधेमें भी है, किन्तु वहाँ विषहरणी-शब्दकी वाच्यता नहीं है, विषहरणी उसका नाम नहींहै अतः सादृश्यहेतु व्यभिचारी होताहै। उसमें जब कि अनुमेय "नामिता"का अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य नहीं, फिर वह कैसे अनुमापक हो सकता? सबसे बड़ी बात यहहै कि किसीभी ज्ञानके स्वरूपका परिचय उसके परवर्त्ती साक्षात्कारसे होताहै। प्रकृतमें यदि उपमिति न होकर अनुमिति होती, तो "यह विषहरणीहै" इस निश्चयके अव्यवहित उत्तरकालमें "मुझे अनुमिति हुई" एतादृश निश्चयात्मक अनुव्यवसाय होता, जोकि होता नहीं, अतः उपमिति नामक स्वतन्त्र-प्रमिति माननी चाहिये।

—o—

उपमितिके प्रभेद

उपमिति दोप्रकार होतीहै। (१) साधर्म्योपमिति और (२) वैधर्म्योपमिति। साधर्म्योपमिति उसे कहते हैं जो उपमिति सादृश्य-निश्चयमूलक होतीहै, जैसा कि ऊपर दिखलाया जाचुका है। वैधर्म्योपमिति इसप्रकार होतीहै जैसे—ऊँटसे अपरिचित किसी मनुष्यको यदि कोई ऊँटको जाननेवालेने कहा कि "क्या तुम ऊँटको नहीं पहचानते"? "उसकी आकृति सभी अन्य पशुओंसे अतिविलक्षण होतीहै, उसके होंठ लम्बे होतेहैं, गर्दन खूब लम्बी होतीहै, वह काँटेको बड़ेही प्रेमसे खाताहै, नीमको भी चबाकर खूब आस्वाद लेताहै" अनन्तर श्रोता मारवाड जाकर

ऊँटको पूर्व उपदेशके अनुसार अन्यपशुओंसे जब विसदृश अर्थात् विलक्षण देखताहै, तो यह निश्चय करताहै कि "यही पशु ऊँटहै"। यही "वैधर्म्योपमिति" होती है। क्योंकि पश्वन्तरके साथ विसदृशताके दर्शनसेही उक्त निश्चय होताहै। अन्य समग्र विचार यहाँ भी "साधर्म्योपमिति"के समान होंगे।

शब्दज-ज्ञान (शाब्दबोध)

प्रत्यक्ष अनुमिति और उपमितिके समान शाब्दबोधभी एक स्वतन्त्र प्रमिति-ज्ञान है। सुननेके अनन्तर होनेवाले बोधका अपलाप नहीं किया जासकता, और वाक्य-श्रवणके अनन्तर होनेके कारण न इसे प्रत्यक्ष अनुमिति या उपमिति ही कहा जासकता। इसकी प्रक्रिया यहहै कि, वक्ताके वाक्योच्चारणके अनन्तर श्रोता उसे सुनताहै, अर्थात् कानसे उन शब्दोंका साक्षात्कार करताहै, उसके परक्षणमें तत्तत्पदजन्य तत्तत्पदार्थोंका ज्ञान (स्मरण) होताहै। फिर सारे पदार्थोंका सम्बद्धरूपसे बोध होताहै। उसेही वाक्यार्थबोध, अन्वयबोध, शाब्दबोध आदि शब्दसे कहाजाताहै।

वाक्य सुननेपरभी सभीको समानरूपसे वाक्यार्थबोध नहीं होताहै। संस्कृतभाषानभिज्ञ-व्यक्ति संस्कृतवाक्योंसे बोध नहीं करपाता। अन्यभाषाके वाक्योंको सुनकर अन्य-भाषाभाषी कुछ नहीं समझता। अतः शब्दश्रवणके अनन्तर और शाब्दबोधके पूर्व, उसकेलिए तत्तत्पदार्थोंके स्मरणकी अपेक्षा माननी पड़तीहै। तत्तत्पदार्थोंका स्मरण उसेही होताहै जिसे पद अर्थात् वाचक-शब्द और उसके अर्थ इन दोनोंमें होनेवाले सम्बन्धका ज्ञान हुआहोताहै। एकभाषाभिज्ञको अपरभाषागत शब्दके अर्थोंके साथ होनेवाले उन शब्दोंके सम्बन्धका ज्ञान नहीं रहता, इसीलिए पद सुननेपर भी पदार्थका स्मरण नहीं होता, और अतएव

वाक्यर्थबोध स्वरूप शाब्दबोधभी नहीं होता। उदाहरण यह कि राम यदि श्यामसे यह कहता है कि "श्याम! तुम कहाँ जा-रहेहो तो श्यामको (१) श्याम (२) तुम (३) कहाँ (४) जारहेहो इन चारों पदोंसे चारों पदार्थोंको उपस्थिति होतीहै अनन्वित-रूपसे। फिर अन्वितरूपसे अर्थात् सम्बद्धरूपसे चारों पदार्थों का बोधस्वरूप वाक्यार्थबोध होताहै कि "राम मुझे यह पूछरहाहै कि तुम्हारा कहाँ जाना होरहाहै ?

जैसे मालामें गुथेहुए सारे पुष्प पहले अलग अलग उपस्थित रहतेहैं, फिर एकसूत्रमें आबद्ध होकर एक "पुष्पमाला" के रूपमें देखे जातेहैं, उसीप्रकार वाक्यार्थबोधके पहले सभी तत्तत्पदार्थ स्वतन्त्ररूपसे उपस्थित होतेहैं, फिर परस्पर अन्वितरूपमें समझे जातेहैं। इसी समझनेका अपर नामहै अन्वयबोध, वाक्यार्थबोध, शाब्दबोध इत्यादि।

यहाँ कुछ लोग एक बहुत बड़ा जटिल प्रश्न यह उपस्थित करतेहैं कि, माला-ग्रथनके अव्यवहित पूर्वमें जैसे सारे पुष्प उपस्थित होतेहैं अन्वयबोधके अव्यवहितपूर्व भी उसीप्रकार सभी प्रकृत पदार्थोंकी उपस्थिति होनी चाहिए, जो कि असम्भव है। असम्भव इसलिए कि शब्द अनित्यहै तृतीयक्षण-विनाशीहै जिसका विवेचन शब्द-विचारस्थलमें किया जायगा। वाक्यके अन्दर एक शब्दके बाद अपर शब्दके उच्चारणसे पहला पहला शब्द नष्ट होजायां करेगा। और उसीप्रकार क्रमसे पदार्थोपस्थितियाँ भी नष्ट होजायंगी। उदाहरण—जैसे रामने श्यामसे कहा "श्याम! तुम कहाँ जारहे हो इधर आओ सुनतो तो जाना" यहाँ "जाना" इस पदके अर्थ गमनकी उपस्थिति-कालमें (१) श्याम (२) तुम (२) कहाँ इत्यादि पूर्वपूर्व पदोंके अर्थोंकी उपस्थितियाँ नष्ट हो जानेके कारण एक-

कालमें नहीं रहेंगी, फिर परस्पर पदार्थों का अन्वयबोधरूप शाब्द-कैसे हो सकेगा ?

यदि शब्दको नित्यभी मान लियाजाय, फिर भी उसका आविर्भाव तिरोभाव और आविर्भूत शब्दसे अर्थकी उपस्थिति, याने अर्थका स्मरण मानना होगा। अन्यथा सर्वदा सभी वाक्योंका अर्थबोध सभीको होता रहेगा। पूर्व पूर्व शब्द आविर्भूत रूपमें अन्ततक रहेंगे नहीं, अतः सभी अर्थोपस्थितिकी एककालीनता असम्भव होजाती, जिससे वाक्यर्थबोध होना असम्भव रह जाताहै। इस प्रश्नके उत्तरमें कुछलोगोंका कहना यहहै कि "स्फोट" नामक एक नित्य-शब्द होताहै, जिसका यह प्रभाव होता कि उसके बलसे पूरा वाक्यार्थबोध होजाया करताहै। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि इस अद्भुत-शक्तिशाली स्फोटको प्रकृतवाक्यसे कोई सम्बन्ध होताहै या नहीं ? यदि असम्बद्ध होकर वह वाक्यार्थबोध करायेगा, फिर तो वाक्योच्चारणके विना भी वाक्यार्थबोध हुआ करेगा, क्योंकि उसे वाक्यसम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रहेगी। यदि यह कहाजाय कि वह "स्फोट" वाक्यान्त-पदमें आश्रित होताहै, अतः वाक्यके विना वह बोध नहीं कराताहै, तो उसे अनित्य और अनन्त मानना होगा, क्योंकि वर्णको नित्य मानने पर भी वाक्यको नित्य नहीं माना जासकता। और जब वाक्यही अनित्य होगा, तो तदाश्रित "स्फोट" नित्य कैसे रह सकेगा ? अनित्य-अनन्त-स्फोटकी कल्पनासे तो कहीं अच्छी यह बात होगी कि, वाक्यके अन्तिम वर्णकाही यह प्रभाव मान लिया जाय कि उससे वाक्यार्थबोध होजाताहै। व्यर्थ उसपर फोंड़े-की कल्पना क्यों की जाय ? एक बात और यह भी है कि, जैसे रूपमें रूप नहीं रहता, रसमें रस नहीं रहता, उसीप्रकार शब्दमें शब्द नहीं रह सकता, फिर वाक्य-पदमें या पदान्त-वर्णमें स्फोटा-

त्मक नित्य शब्द कैसे रह सकता? साथही यह कि जो लोग स्फोटात्मक शब्दको ही अद्वैत तत्त्व मानते हैं, उनके मतमें तो उक्तप्रकारसे भी उपपत्ति नहीं होसकती। अतः उक्त प्रश्नका उत्तर यह समझना चाहिए कि वाक्यमें जितने पद होतेहैं उनके सुनने-पर प्रत्येक पदके अनुभवसे एक एक संस्कार बनता जाता है। अन्तिमपदश्रवण होनेपर मिलित समग्र उक्त संस्कारोंसे सकल पदोंका एक स्मरण होआताहै, उससे सकल पदोंके अर्थोंका युगपत् स्मरण होजाताहै, जिससे सकल पदार्थोंका 'परस्परान्वयबोधस्वरूप शाब्दबोध होता है। इस पक्षमें कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती।

वाक्यार्थबोधरूप शाब्दबोध तभी होताहै, यदि वाक्यके अन्तर्गत पदोंमें सान्निध्य रहताहै, क्योंकि यदि "देवदत्त" कहनेके बाद तुरत "आताहै" यह न कहाजाय, पहरबाद कहाजाय, तो सुननेवाले-को "देवदत्त आताहै" ऐसा वाक्यार्थबोध नहीं होता। अतः पदोंमें सान्निध्य, शाब्दबोधकेलिए अपेक्षित होताहै। इसी पदगत-सान्निध्य को प्राच्य-दार्शनिकलोग "आसत्ति" नामसे पुकारतेहैं। वस्तुतः "शाब्दबोधकेलिए उक्त सान्निध्यकी अपेक्षा नहीं, अपितु उसके ज्ञानकी अपेक्षा होतीहै। इसलिए पद्यवाक्योंसे बोधोत्पत्तिकेलिए पदयोजना (अन्वय) की अपेक्षा होतीहै। पदोंमें सान्निध्य होनेपरभी यदि उसका ज्ञान श्रोताको न हो तो वाक्यार्थबोध नहीं होता। साथही वाक्यका अर्थ अबाधित भी होना चाहिए। जिस वाक्यका अर्थ बाधित होताहै उस वाक्यसे श्रोताको अर्थबोध नहीं होता। जैसे यदि कोई कहे कि "आगसे सींच रहाहै" तो इस वाक्यसे अर्थबोध नहीं होताहै, क्योंकि सेचन जलसेही होसकता, आगसे नहीं। एतादृश वाक्य-प्रयोगस्थलमें श्रोताको अर्थोपस्थिति अर्थात् पदार्थोंका [illegible] स्मरणमात्र होकर

रह जाताहै। इसी अर्थगत अबाधितत्व याने "अर्थाबाध" को दार्शनिकलोग "योग्यता" कहतेहैं। इस योग्यताका ज्ञान यदि अभ्रान्त अर्थात् यथार्थ होताहै, तो शाब्दबोध यथार्थ होताहै। कुछलोग अयोग्यता-ज्ञानको शाब्दबोधके प्रति प्रति-बन्धक मानतेहैं इसीसे उक्त अयोग्य-वाक्यसे वाक्यार्थबोध-होता नहीं। अतः योग्यता-ज्ञानको शाब्दबोधके प्रति कारण नहीं मानते। शाब्दबोध वहाँ ही होताहै जहाँ वाक्यके अन्तर्गत पदोंमें परस्पर अपेक्षारूप आकांक्षा समझी जातीहै। यही कारण है कि यदि वक्ता एक-सांससे बोलजाय "गैया बैल आदमी हाथी" तो इस वाक्यसे श्रोताको कोई अर्थबोध नहीं-होता। क्योंकि "गैया" इस पदसे बैल" इस पदको कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती। वहाँही यदि यह बोलाजाय कि "गैया आतीहै" "बैल जाताहै" तो इस वाक्यसे अर्थका बोध होताहै। क्योंकि क्रियापदसे कारकपदको और कारकपदसे क्रियापदको अपेक्षा होतीहै। "गैया" यह कारक-पदहै, और "आतीहै" यह क्रिया-पदहै। इसीप्रकार "बैल जाताहै" इत्यादि अन्य वाक्यस्थल-में भी समझना चाहिए। वक्ताकी इच्छाका ज्ञानभी शाब्दबोधके प्रति कारण होताहै। वाक्य के अर्थ अनेक होनेपरभी श्रोता वक्ताकी जैसी इच्छा समझताहै, अर्थात् "यह वक्ता इस अर्थको समझानेकेलिए इस वाक्यका प्रयोग कियाहै" ऐसा समझताहै तदनुरूपही वाक्यसे बोध करताहै। जैसे भोजन करते समय वक्ताने यदि कहा "सैन्धव ले आओ" तो श्रोता यही समझताहै कि सेंधा नमक लानेको कहाहै, यह नहीं समझताहै कि सिन्ध-देशके घोड़ेको लाने कहाहै। यद्यपि सैन्धव-शब्द नमक और घोड़ा इन दोनोंका समान रूपसे वाचकहै, फिरभी बोध दोनोंका एक-कालमें नहीं होता। वक्ताकी ईच्छाकोही दार्शनिक लोग तात्पर्य

कहतेहैं, और उसके ज्ञानको उक्तप्रकार बोधके नियमनार्थ शाब्द-बोधके प्रति कारण मानतेहैं। कुछलोग सब शाब्दबोध-स्थलमें उक्त इच्छास्वरूप तात्पर्यके ज्ञानको कारण नहीं मानते। हाँ जहाँ वाक्यके अन्दर शब्द अनेकार्थक होताहै, जैसाकि ऊपर उदाहरण दिया गयाहै, तादृशस्थलमात्रमें तात्पर्यज्ञानको कारण मानतेहैं। इन लोगोंका कहना यहहै कि शाब्दबोध तो सुग्गा, पहाड़ी-मैना आदि पक्षीके वाक्यसे भी होताहै, किन्तु वहाँ उनका कोई तात्पर्य नहीं रहता, और न श्रोता तात्पर्य-ज्ञान करके ही शाब्दबोध करता, क्योंकि वह समझताहै कि सुग्गा अर्थबोधकी इच्छासे नहीं बोलताहै।

कुछलोग सभी शाब्दबोधके प्रति तात्पर्यको कारण तो मानते-हैं, किन्तु तात्पर्यको वक्ताकी इच्छास्वरूप नहीं मानते। उनका कहना यहहै कि, जो कहताहै और जिसे कहताहै इन दोनोंसे भिन्न उदासीन तटस्थ श्रोताको भी तो वाक्यार्थबोध होताहै, जिसे वक्ताकी इच्छाकी ओर ध्यान बिलकुल नहीं रहता, अतः शब्दमें होनेवाला बोधोत्पादनसामर्थ्य ही है तात्पर्य। इस मतवादमें तात्पर्य-का ज्ञान कारण न होकर स्वरूपतः तात्पर्यही कारण होताहै। किन्तु यहाँ ध्यान रखनेकी बात यह है कि शब्दगत-सामर्थ्यको तात्पय कहना यह उनके अपने घरकी ही परिभाषा होगी। "आप किस तात्पर्यसे कह रहे हैं" इत्यादि प्रयोगस्थलमें तात्पर्यशब्द इच्छा अर्थको ही कहता हुआ पायाजाता है।

शाब्दबोधके प्रभेद

उक्त शाब्दबोध या वाक्यार्थबोधको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकताहै, जैसे शक्यार्थबोध और लक्ष्यार्थबोध। शक्यार्थ-बोध वहाँ होताहै जहाँ पद और पदार्थ इन दोनोंमें "वाच्य-वाचक-

भाव" सम्बन्धका ज्ञान करके, पदार्थका स्मरण होताहै, और उससे वाक्यार्थबोधस्वरूप शाब्दबोध होताहै। जैसे "राम जाताहै, श्याम आताहै" इत्यादि वाक्योंसे होनेवाला बोध। क्योंकि राम और उसका जाना और उस जानेकी वर्तमानता ये तीनों तीन पदके वाच्य हो हैं। और लक्ष्यार्थबोध वह होताहै जहाँ शब्द और अप्रकृत अर्थ इन दोनोंमें वाच्यवाचकभाव-सम्बन्धका ज्ञान होकर शब्द और प्रकृत-अर्थ इन दोनोंमें लक्ष्य-लक्षकभाव-सम्बन्धका ज्ञान होता है, और उससे लक्ष्यार्थका स्मरण होकर वाक्यार्थबोध होताहै। जैसे, एक्कावानसे यह कहा जाय कि "ऐ एक्का ! खड़े रहो" तो यहाँ-का वाक्यार्थबोध होता है "लक्ष्यार्थबोध"। क्योंकि यहाँ "एक्का" पद एक्काको समझानेकेलिए प्रयुक्त न होकर "एक्कावान" अर्थको समझानेकेलिए प्रयुक्त होताहै, और उसी अर्थका स्मरण कराकर "ऐ एक्कावान एक्का खड़ा करो" ऐसा वाक्यार्थबोध होताहै।

सारकथा यह कि, अर्थमें पदके सम्बन्ध दोप्रकार होतेहैं। जिनमें एकहै "शक्ति" और अपर है "लक्षणा"। जहाँ शक्ति सम्बन्धके ज्ञानसे अर्थका स्मरण होकर शाब्दबोध होताहै उसका नामहै शक्यार्थबोध। और जहाँ "लक्षणा" सम्बन्धके ज्ञानसे लक्ष्यार्थका स्मरण होकर वाक्यार्थबोध होताहै उसका नामहै लक्ष्यार्थबोध। शक्ति तीनप्रकारहै जैसे समुदायशक्ति, अवयवशक्ति, और मिलितशक्ति, समुदायशक्तिको "रूढ़ि" और अवयवशक्तिको "योग" तथा मिलितशक्तिको "योगरूढ़ि" शब्दसे भी पुकारतेहैं। मिलितशक्तिको कुछलोग "योगरूढ़ि" और "योगिकरूढ़ि" इन दोभागोंमें विभक्त करते हैं। रूढ़ि उसे कहतेहैं जोकि अर्थमें पदकी शक्ति एक होती है। अवयवशक्ति उसे कहतेहैं जो कि एक पदके अन्दर होनेवाले प्रकृति और प्रत्ययकी विभिन्नशक्ति, होती है। जैसे

"पाचक" इस पदके अन्दर "पच्" धातु और ण्वुल् प्रत्ययकी शक्ति । "पङ्कज" पदकी कमलरूप अर्थमें होनेवाली शक्ति होती है "मिलितशक्ति" क्योंकि कमलअर्थमें पङ्कजपदकी समुदायशक्ति भी है और अवयवशक्ति भी । योगरूढ़ि और यौगिकरूढ़िमें भेद यह होता है कि योगरूढ़िरूप शक्ति एक पदकी एक अर्थमें होतीहै, और "यौगिकरूढ़ि" वह होती है जो एक पदकी अनेक अर्थोंमें अनेक शक्तियाँ होतीहैं । "पङ्कज" पद-स्थलमें एक पङ्कजपदकी एकही कमलअर्थमें समुदायशक्ति एवं अवयवशक्तिभी होतीहै । "उद्भित्" पद-स्थलमें एक पदकी यज्ञ अर्थमें समुदायशक्ति और लता, वनस्पति आदि अर्थोंमें अवयव-शक्ति होतीहै । इन शक्तियोंके भेदसे शक्यार्थबोधको "समुदायार्थबोध" "अवयवार्थबोध" और "मिलितार्थबोध" इन तीन भागोंमें विभक्त समझना चाहिए।

प्रकृत शब्दके वाच्य-अर्थका जो प्रकृतअर्थमें सम्बन्ध होताहै उसका नामहै लक्षणा—जैसे एक्कावानके बोधार्थ जहाँ एक्का शब्दका प्रयोग किया जाताहै, वहाँ एक्का शब्दका वाच्यार्थ जो एक्का-गाड़ी है, उसका जो संयोगस्वरूप सम्बन्ध उसपर संचालनार्थ बैठेहुए मनुष्यमें होताहै, वह संयोगहै लक्षणा । एतादृश सम्बन्धस्वरूप-लक्षणाके कारण ही "ऐ एक्का ऐ एक्का !" कहनेसे एक्कावान समझा जाताहै । इसीप्रकार सभी लाक्षणिक पदोंके प्रयोगस्थलमें समझना चाहिए। यह लक्षणा तीनप्रकार होतीहै (१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा और (३) जहदजहल्लक्षणा । वाच्यका सम्बन्ध यदि केवल अवाच्यनिष्ठतया विवक्षित हो तो उसी सम्बन्धका नाम होताहै जहल्लक्षणा । जैसे एक्कावानको समझानेकेलिए जहाँ एक्का शब्दका प्रयोग होताहै, वहाँ जहल्लक्षणा होतीहै, क्योंकि वा-

च्य अर्थभूत एक्केके संयोगरूप सम्बन्धका आश्रयरूपसे विवक्षित, उसपर नियन्तारूपसे आरूढ़ एक्कावान, एक्का शब्दका बिलकुल वाच्य नहीं होताहै, अतः उक्त संयोगसम्बन्धस्वरूप लक्षणाको केवल अवाच्यनिष्ठ मानना होगा। कुछ लोग एतादृशस्थलमें जहल्लक्षणा न मानकर अजहल्लक्षणा ही मानते हैं। उनका कहना यहहैकि एक्कावानका माने होताहै एक्काका नियन्ता मनुष्य, इसके अन्दर एक्कास्वरूप वाच्य अर्थभी समाविष्ट रहता ही है, उसकी अप्रतीति नहीं होतीहै, फिर यहाँ वाच्यार्थका त्याग न होनेके कारण कैसे जहल्लक्षणा कही जायगी ? अतः एतादृश स्थलमें अजहल्लक्षणाही माननी चाहिये। हाँ जहाँ "इसके घर खाना नहीं" यह समझानेकेलिए वक्ता यह कहताहै कि "इसके घर जाकर विष खाओ" तो वहाँ जहल्लक्षणा होगी। क्योंकि "विष खाओ" इस शब्दका यह वाच्य अर्थ नहीं है कि मत खाओ, अतः वाच्य अर्थका पूर्णत्याग होनेके कारण जहल्लक्षणा होगी। अजहल्लक्षणा उस वाच्य-सम्बन्धको कहतेहैं जो प्रकृत शब्दके वाच्य एवं अवाच्य उभयगत-तया विवक्षित होताहै। जैसे-"कौआ-बिल्ली-कुत्ते सभीसे दहीको बचाओ, कोई खाने न पाये" इस अर्थको समझानेकेलिए यदि वक्ता यह प्रयोग करताहै कि "कौएसे दहीको बचाओ" तो यहाँ अजहल्लक्षणा होतीहै। क्योंकि यहाँ कौआ शब्दसे उसके अवाच्य बिल्ली-कुत्ते आदि दहीके भक्षक जैसे विवक्षित होतेहैं, उसके वाच्य अर्थ कौए भी विवक्षित होतेहैं। "कौएसे दहीको बचाओ" इस वाक्यके वक्ताका अभिप्राय यह होताहै कि सभी जन्तुओंसे दहीको बचाओ। अतः "दधिभक्षकत्व" सम्बन्धस्वरूप लक्षणा वाच्यार्थ कौए एवं अवाच्यार्थ बिल्ली आदि सभी में है, सुतरां वाच्य और अवाच्य उभय वस्तुगतरूपसे विवक्षित होनेके कारण दधिभक्षकत्व सम्बन्ध अजहल्लक्षणा होगी।

जहदजहल्लक्षणा वहाँ होतीहै जहाँ वाच्य अर्थके सम्बन्ध-का आश्रयरूपसे पूरा वाच्य अर्थ विवक्षित न होकर वाच्य अर्थ-का कुछ अंश विवक्षित होताहै। जैसे—पहले देखे हुए पदार्थको जब वक्ता यह कहताहै कि "यह वहीहै" तो जहदजहल्लक्षणाके ज्ञानके सहारेही श्रोता पदार्थका स्मरणकर शाब्दबोध करताहै। क्योंकि "वह" शब्दका वाच्य अर्थ होताहै अतीतकालमें होने-वाला, और "यह" का इस-कालमें होनेवाला। दोनों कालोंमें भेद होनेके कारण उन विशेषणोंसे विशिष्ट दोनोंका ऐक्य बाधित होता, जोकि वक्ताका विवक्षित होताहै। अतः काल अंशको बाद-देकर वस्तुमात्र अंशको लेकर श्रोता ऐक्य समझताहै। सारकथा यह है कि विवक्षित वस्तुमें होनेवाली वाच्यार्थकी "अंशता" नामक सम्बन्धही "जहदजहल्लक्षणा" होतीहै। लक्षित लक्षणा परम्परासम्बन्धरूप होती है। जैसे "द्विरेफ मधुपान कररहाहै" एतादृश वाक्य-प्रयोगस्थलमें श्रोताको जो "द्विरेफ" पदसे भ्रमर-जन्तुका बोध होताहै वह लक्षितलक्षणासे होताहै। क्योंकि "द्विरेफ" शब्दका वाच्य अर्थहै केवल दो रेफ, अर्थात् दो "र" अतः दो रेफ हों जिस नाममें वह है "द्विरेफ" इस बहुव्रीहि-समाससे रेफद्वयघटित "भ्रमर" शब्दकी प्रथमतः प्राप्ति की जातीहै, फिर उसकी वाच्यता भ्रमरजन्तुमें आतीहै, इसप्रकार "द्विरेफ" पदका "स्ववाच्य-रेफद्वयघटित-पदवाच्यता" स्वरूप परम्परा-सम्बन्ध भ्रमरजन्तुमें आताहै। यही होताहै लक्षितलक्षणा। सारकथा यह हुई कि लक्षणागर्भ जहाँ लक्षणा होतीहै, अर्थात् एक वाच्यार्थ-सम्बन्धको भीतरमें लेकर जब प्रकृत अर्थका बोध किया जाताहै तब प्रकृत अर्थमें प्रकृत पदका परम्परासम्बन्धस्वरूप उसकी "लक्षि-तलक्षणा" होतीहै। इसप्रकार विचारके अनुसार लक्षणा दो प्रकार होतीहै (१) अलक्षितलक्षणा और (२) लक्षितलक्षणा।

अलक्षितलक्षणा फिर तीन प्रकार होतीहै (१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा और (३) जहदजहल्लक्षणा, जिसका विवेचन किया जाचुकाहै। वाच्य अर्थगत गुणके योगसे जहाँ अन्यवाचो शब्दका अन्य अर्थमें प्रयोग होताहै और उससे अर्थबोध होताहै वहाँ भी शब्द और अर्थका सम्बन्ध लक्षणास्वरूपही होताहै। जैसे—किसी मनुष्यकेलिए यदि यह कहा जाय कि "यह तो आग है" "इससे खेलना तो आगसे खेलनाहै" इत्यादि, तो वहाँ लक्षणाके सहारेही बोध होगा। क्योंकि वह मनुष्य आग नहीं होताहै जिसे आग शब्दसे कहा जाताहै, किन्तु आगके समान तेजस्वी होनेके कारण आग शब्दके वाच्य वास्तविक आगका सादृश्य सम्बन्धस्वरूप लक्षणा मनुष्यमें हैं, जिसे समझकर उक्तप्रकार वाक्योंसे श्रोता अर्थबोध करताहै। यही लक्षणा "गौणी" कहलातीहै, अतः "गौणी" भी लक्षणाही है, स्वतन्त्र कोई शब्दार्थ-सम्बन्ध नहीं, सुतरां "गौण्यर्थबोध" नामक कोई शाब्दबोधका स्वतन्त्र-प्रभेद नहीं। यों तो लक्षणाके और भी प्रभेद एवं उसके सहारे लक्ष्यार्थ बोधके भी बहुत अवान्तरभेद किये जासकतेहैं, जैसा कि कुछलोगोंने कियाभी है, परन्तु मुख्य प्रभेद ये ही हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं।

रसाद्वैतवादी लोग शक्ति और लक्षणाके अतिरिक्त "व्यञ्जना" नामक भी एक सम्बन्ध प्रकृत अर्थमें प्रकृत शब्दका मानतेहैं, अतः व्यङ्ग्यार्थबोधभी शाब्दबोधका एक स्वतन्त्र प्रभेद होताहै। इसी व्यञ्जनाको वे लोग "व्यक्ति" "ध्वनि" इत्यादि अन्य नामोंसे भी पुकारते हैं, और "शब्दशक्तिमूल" "अर्थशक्तिमूल" आदि रूपसे उसका विभाजन भी करतेहैं। उनका कहनाहै कि शक्ति और लक्षणासे व्यञ्जनाका काम इसलिए नहीं चलता कि शक्ति-सम्बन्ध और लक्षणा-सम्बन्ध जब अर्थबोध कराकर उपरत

अर्थात् निर्व्यापार हो जाते हैं, फिर "व्यञ्जना" बोध कराती है। यदि व्यञ्जना स्वतन्त्र "वृत्ति" न होती, "व्यङ्ग्यार्थ बोध" स्वतन्त्र बोध न होता तो वाच्यार्थ बोध या लक्ष्यार्थ बोधके साथही व्यङ्ग्यार्थ-का बोधभी हो जाता, ये बोध विभिन्न कालमें नहीं हो पाते, किन्तु ऐसा होता नहीं। उदाहरण जैसे, किसी वक्ताने कहा "पटना देरी लखनेऊ कासमीर सुख देत" तो श्रोता प्रथमतः यह इसका अर्थ समझता है कि पटना दिल्ली लखनऊ और काश्मीर ये सुख देते हैं। इस साधारण अर्थका बोध श्रोताको तुरत होजाता है किन्तु फिर उक्त वाक्यके ऊपर विशेष मनोयोग करनेपर बादमें यह अर्थ समझा जाता है कि "अरी! कपड़ा न दे, देख, पवन कैसा सुख देरहा है"। जब कि यह द्वितीय बोध विलम्बसे होता है, तो माननाही होगा कि "शक्ति"से अतिरिक्त कोई सम्बन्ध, अर्थमें शब्दका है, जिसे समझकर श्रोताने द्वितीय अर्थका बोध किया है। यह तो कहा नहीं जासकता कि, शक्ति ही कुछ ठहर कर द्वितीय अर्थ-बोधतक करा देती है। क्योंकि बाण जैसे जितना बेधन करना होता है एकही बार कर डालता है, ठहर ठहर कर नहीं, उसीप्रकार शब्द एवं क्रिया, ये विहत हो होकर ठहर ठहरकर कुछ काम नहीं करते।

यह नहीं कहा जासकता कि, उक्त "पटना-देरी-लखनऊ—" इत्यादि वाक्य-प्रयोगस्थलमें द्वितीय अर्थका बोध लक्षणासे होता है। क्योंकि लक्षणासे बोध वह होता जहाँ शक्तिसे बोध होनेमें बाधा पहुँचती, वक्ताका तात्पर्य अनुपपन्न होता है। उक्तस्थलमें यह परिस्थिति नहीं है, श्रोता अनायास प्रथम अर्थका बोध करता है, अतः लक्षणाका अवकाश यहाँ नहीं है। सुतरां "व्यञ्जना"को स्वतन्त्र वृत्ति एवं "व्यङ्ग्यार्थबोध"को शाब्दबोधका एक स्वतन्त्र प्रभेद मानना चाहिए। बहुत युक्तियोंके

अन्दर एक युक्ति यह भी है कि शक्यार्थबोध और लक्ष्यार्थबोध आपामरसाधरण सभीको होताहै, किन्तु व्यङ्ग्यार्थबोध तो विरल सहृदय पवित्रान्तःकरण—व्यक्तिको ही होताहै।

लक्षणासे बोध होजानेपर व्यञ्जनासे बोधका उदाहरण—जैसे, किसी वक्ताने "यह भवन-गंगाके किनारे है" यह समझानेके अभिप्रायसे यदि यह बोला कि "यह भवन तो गङ्गामें ही है" तो श्रोता वाच्यार्थका बोध देखकर गङ्गापदके वाच्यार्थ जलप्रवाहके "सामीप्य" सम्बन्धरूप-लक्षणाका ज्ञानकर समीपवर्त्ती तटका स्मरण करके "यह भवन गङ्गातटपर है" इसप्रकार लक्ष्यार्थबोध प्रथमतः करताहै। अनन्तर व्यञ्जनावृत्तिके सहारे "यह भवन शीतल तथा पवित्र है" इसप्रकार व्यङ्गार्थबोध होताहै। अतः व्यञ्जना भी मन्तव्य है।

परन्तु यह इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि सुख आदिके प्रत्यक्ष जिसप्रकार मानस होतेहैं उसीप्रकार वाच्यार्थबोध एवं लक्ष्यार्थबोधके अनन्तर व्यंग्यतया अभिमत वस्तुका मानसप्रत्यक्ष हो जायगा। उस परवर्त्ती बोधको शाब्दबोधही नहीं माना जायगा, अतः व्यंजना एवं व्यंग्यार्थबोध माननेका कोई प्रयोजन नहीं रहजाता। उक्त परवर्त्ती-बोध सबको नहीं होता किसीको ही होताहै, अतः व्यंजना माननी चाहिये, इस युक्तिमें कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि कोई भी बोध सबको नहीं होता, विभिन्न प्राणियोंको विभिन्नप्रकार बोध होते ही हैं, इसमें कोई विलक्षण बात तो नहीं दीख पड़ती।

इन्हीं विचारोंके आधारपर प्रथमतः पदोंकोभी "शक्त" और "लक्षक" इन दो भेदोंमें विभक्त करना चाहिए। फिर "शक्त"को (१) यौगिक (२) रूढ़ (३) योगरूढ और (४) यौगिकरूढ़ इन चार भेदोंमें विभक्त समझना चाहिए। इसी-

प्रकार "लक्षक" पदोंको भी (१) जहल्लक्षक (२) अजहल्लक्षक और (३) जहदजहल्लक्षक इन भेदोंमें विभक्त समझना चाहिए।

यहाँ एक ध्यान रखनेकी बात यहहै कि कुछलोग लक्षक पदको "अनुभावक" अर्थात् शाब्दबोधका जनक नहीं मानते, केवल "शक्त" पदको ही शाब्दबोधका जनक मानतेहैं। सारकथा यह कि शब्दगतशक्ति दोप्रकार होतीहै (१) "स्मारिका" और (२) "बोधिका"। शक्तपदमें तो ये दोनोंही प्रकार शक्तियाँ रहतीहैं, किन्तु लक्षक-पदमें केवल "स्मारिका" शक्ति होतीहै। जिस वाक्यके अन्दर "लक्षक" पदका समावेश होताहै उसके पूरे अर्थबोधके प्रति उसवाक्यके अन्दर आनेवाला शक्तपद ही कारण होताहै। "लक्षक" पदसे केवल लक्ष्य अर्थका स्मरण होकर रहजाता। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि जहाँ वाक्यके सारे पद लक्षक होंगे वहाँ पूरा शाब्दबोध कौन करायेगा? वाक्यमें शक्त पद तो रहेगा ही नहीं।

—०—

शाब्दबोधके अन्य प्रभेद

शाब्दबोधको अन्यप्रकारसे भी विभक्त किया जासकताहै। जैसे—(१) खण्डवाक्यार्थबोध और (२) महावाक्यार्थबोध। महावाक्यार्थबोध वह कहलाताहै जहाँ अनेक अवान्तर-वाक्य अपनेमें एकवाक्यता प्राप्तकरतेहैं और उससे अर्थका बोध होताहै। जैसे—"राम वहाँ बैठाहै, उसे बुलालो, और उसे यह पुस्तक देदो" इतने बड़े वाक्यसे जो श्रोताको अर्थबोध होता-है, वह होताहै महावाक्यार्थबोध, क्योंकि उक्त पूरा-वाक्य, तीन खण्डोंका समष्टिरूप है। प्रत्येक वाक्यका अर्थबोध जब अलग अलग होलेताहै, फिर तीनों वाक्य, एक महावाक्यका रूप धारण

करतेहैं, और वह महावाक्य महावाक्यर्थबोधका सम्पादन करता-है। और एक एक अवान्तर-वाक्यसे जो अवान्तर बोध होताहै, वह होताहै खण्ड-वाक्यार्थबोध। किन्तु यह विभाजन तभी संगत होताहै जब कि "खले कपोत" न्यायसे बोध नहीं माना जाता। क्योंकि इस पक्षमें वाक्यके अन्दर आनेवाले प्रत्येक पदोंसे अलग अलग अर्थोंके स्मरण होजातेहैं। सभी पदोंसे सभी पदार्थोंके स्मरण हो जानेपर "युगपत्" याने एकही समय योग्यताके अनुसार विशेषण-विशेष्य-भावापन्नरूपसे अन्वित हो जातेहैं, अर्थात् एकदा ही पूरे वाक्य का अर्थबोध हो जाताहै, पहले अवान्तर वाक्यार्थबोध नहीं होता। "खले कपोतन्याय" का अर्थ है "खले कपोत" दृष्टान्त। "खले कपोत" का तात्पर्य यह है कि कपोतों (कबूतरों) का यह स्वभाव होताहै कि वे एकके पीछे एक नहीं चलते, अतएव उड़कर जब खलिहानमें दाना चुगनेकेलिए बैठतेहैं तो ठीक एकही समय सबके सब बैठ जातेहैं। प्रकृतमेंभी सारे पदार्थ अलग अलग स्मृत होजानेपर विशेष्य विशेषणभावसे अर्थबोध एकदा ही होताहै। अवान्तर वाक्यसे अर्थबोधस्थलमें तो यह प्रक्रिया सही जँचतीहै, किन्तु वाक्य-राशिकी एकवाक्यतासे होनेवाले महावाक्यस्थलमें यह प्रक्रिया सही नहीं जँचती। वहाँ अवान्तर बोध न होकर एकदाही महा-बोध होजाताहै, इसे मन नहीं मानता, अतः शाब्दबोधका उक्त विभाजन ठीक ही है।

शाब्दबोधकी प्रक्रियामें दार्शनिकोंका बड़ाही मतभेद देखा-जाताहै। कुछलोग "अन्विताभिधानवादी" या उसवादके अनुयायी देखे जातेहैं, तो अन्य कुछलोग "अभिहितान्वयवादी" या उस वादके अनुयायी। 'अन्विताभिधानवादमें शाब्दबोधकी प्रक्रिया यह होती

कि, शक्तिज्ञानके सहारे वाक्यके अन्दर आनेवाले प्रत्येक पदोंके अर्थोंका अर्थात् शाब्दबोधमें विषय होनेवाले सम्बन्ध एवं सम्बन्धी वस्तुओंका स्मरण होताहै। अनन्तर उससे समग्रवाक्योंके उन अर्थोंका अनुभवस्वरूप शाब्दबोध होताहै। शक्तिज्ञानके सहारे पदार्थोंके सम्बन्धोंका भी स्मरण पदोंसे इसलिए होताहै कि, इस मतवादमें पदोंकी शक्ति याने वाच्यता केवल पदार्थोंमें नहीं मानीजाती, अपितु अन्यपदार्थसे अन्वित अर्थात् सम्बद्ध पदार्थमें जैसे—"श्याम जाताहै" एतादृश प्रयोगस्थलमें "श्याम पदका अर्थ केवल तन्नामक व्यक्ति नहीं, अपितु "जाताहै" इस पदके अर्थ जाना स्वरूप क्रियासे सम्बद्ध "श्याम" नामक व्यक्ति होताहै। इसीतरह "जाताहै" इस पदका अर्थ केवल वर्तमानकालमें होने-वाला गमनस्वरूप जाना ही नहीं, अपितु "श्याम" नामक व्यक्तिसे सम्बद्ध तादृश जाना। यह इसलिए कि जो किसी पदका अर्थ नहीं होता, वह कभी वाक्यार्थबोधमें याने शाब्दबोधमें विषय नहीं बन सकता। अन्यथा "श्याम जाताहै" इस वाक्यसे श्राता कभी राम जाता है" यह भी समझ बैठेगा, "राम" नामक व्यक्ति "श्याम" नामका अर्थ न होनेपर भी वह शाब्दबोधका विषय होजायगा। अतः यदि दो पदार्थोंके बीच होनेवाले सम्बन्धमें पदकी शक्ति न होगी, तो वहभी शाब्दबोधका विषय न हो पायेगा। सारकथा यह हुई कि शाब्दबोधके प्रति पद होतेहैं साधकतम "करण" और उससे होनेवाले सारे विषयोंके स्मरण होतेहैं शाब्द-बोधके प्रति मध्यवर्ती "व्यापार"। उसके अनन्तर शाब्दबोध होताहै "फल"। जैसे-प्रत्यक्ष-स्थलमें आँखआदि इन्द्रियाँ होती हैं साधकतम "करण", विषयके साथ उनके संयोग आदि सन्निकर्ष होतेहैं "व्यापार", और वस्तुका साक्षात्कार होताहै "फल"।

अभिहितान्वयवादमें पद सुननेके बाद अन्वित अर्थात परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओंके स्मरण नहीं होते, अपितु अन्वय-रहित अर्थात् परस्पर सम्बन्ध-रहित बोधविषय वस्तुओंका "अभिधान" होताहै, याने स्मरण नहीं, किन्तु स्मरणके समान अनुभवात्मक बोध होताहै। जिसके कारण, सम्बन्ध-रहित उक्त सारे पदार्थ "अभिहित" होजाते, एवं "अभिहित" कहलातेहैं। इन अभिहित पदार्थोंसे परस्पर सम्बन्ध-सम्पन्न सारे पदार्थोंका बोधस्वरूप शाब्दबोध होताहै। इस मतमें पदशक्ति-ज्ञान तो अन्वित अर्थोंमें या स्वतन्त्रतया अन्वयमें अर्थात् सम्बन्धमें नहीं होता, किन्तु चरमफल-शाब्दबोधमें सम्बन्धका विषयीकरण पदशक्तिके सहारेही होताहै। सारकथा यह हुई कि इस पक्षमें वाक्यघटक पदोंको सुननेके बाद पदार्थोंके स्मरण नहीं, किन्तु अनुभव होतेहैं। और वे भी परस्पर-सम्बद्ध अर्थोंके नहीं, अपितु सम्बन्धरहित-अर्थोंके। एवं यहाँ पदार्थोंके स्मरण, मध्यवर्ती व्यापार नहीं होते, किन्तु उक्त प्रकार "अभिधान" नामक अनुभवोंके विषय प्रत्येक पदार्थ "व्यापार" होतेहैं। तथा यहाँ सम्बन्ध शक्तिज्ञानका विषय नहीं होता, पदशक्तिके सहारेही शाब्दबोधका वह विषय होताहै। उदाहरण जैसे—उक्त "श्याम जाताहै" इस वाक्यस्थलमें प्रथमतः शब्दका श्रवण होताहै, अनन्तर श्याम नामक व्यक्ति और वर्तमान गमन इन पदार्थोंके अनुभव होतेहैं, अर्थात् अज्ञात पद-सामर्थ्यके प्रभावसे ही अनुभवात्मक अभिधान होजातेहैं, जिससे उनके विषय श्याम नामक व्यक्ति और उसका जाना ये दोनों ही विषय अभिहित अर्थ होजातेहैं, और उनसे "श्याम जाताहै" ऐसा श्यामकर्तृक गमनका बोध होजाताहै। यह विशेष ध्यान देनेयोग्य बातहै कि, इस मतवादमें पदशक्तिज्ञानकी बिलकुल अपेक्षा नहीं रहजाती। पदगत अज्ञातशक्तिरूप सामर्थ्यसे ही अभिधानरूप प्रत्येक पदार्थानुभव

तथा अभिहित पदार्थोंका परस्परान्वयबोधस्वरूप वाक्यार्थबोध ये दोनोंही सम्पन्न होजातेहैं। यहाँ जो शाब्दबोधकी प्रक्रिया सिद्धान्तरूपसे पहले लिखो गयीहै, वह इन दो वादोंकी अनुयायिनी नहींहै। क्योंकि गम्भीर विचार करनेपर ये दोनों ही वाद सङ्गत मालूम नहीं होते। पहले "अन्विताभिधान" को ही लियाजाय— अन्विताभिधानवादी लोग अन्वय अर्थात् सम्बन्धमें भी पदशक्ति और उसके ज्ञानकी अपेक्षा मानतेहैं। यहाँ उनसे यह पूछना चाहिए कि अन्वयमें पदकी स्वतन्त्र कोई शक्ति मानते या अन्वितवस्तुमें पदकी वाच्यतारूप शक्ति मानते? प्रथमपक्ष इसलिए समीचीन नहीं कि "श्याम" नामक व्यक्ति और गमनके साथ होनेवाला उसका सम्बन्ध ये दोनों स्वतन्त्ररूपसे उपस्थित होंगे, फिर तो उस स्वतन्त्र उपस्थित सम्बन्धके साथ श्याम व्यक्तिका एक और सम्बन्ध अपेक्षित होगा, क्योंकि स्वतन्त्र दो वस्तुओंको विशिष्ट करनेकेलिए एक सम्बन्ध की अति आवश्यकता होती। अन्यथा "जाताहै" इसके अर्थ "जाना" क्रियाके साथही सम्बन्धकी क्या आवश्यकता रहजाती? इस वादका महत्त्वही क्या रहजाता? यदि श्याम पदकेही स्वतन्त्र अर्थ-सम्बन्धके साथ श्यामको जोड़नेकेलिए एक और स्वतन्त्र सम्बन्धकी, और उसमें श्याम पदकी शक्तिकी एवं उसशक्तिके ज्ञानकी अपेक्षा मानीजाय तो इसीप्रकार सम्बन्धकी, उसमें शक्तिकी, और शक्तिज्ञानकी अनन्तधारा चलपड़ेगी, जिसका अन्त न होनेके कारण प्रकृतबोध नहीं होसकेगा। इसीप्रकार किसी वाक्यसे बोध नहीं होसकेगा, किन्तु वाक्योंसे बोध होतेहैं।

द्वितीय पक्ष इसलिए सङ्गत नहीं कि अन्वित वस्तुमें यदि पदकी शक्ति (वाच्यता), मानीजायगी और उसके ज्ञानकी अपेक्षा, तो वह ज्ञान अन्वितवस्तुको विशेष्य और उसमें पदशक्तिको

विशेषणकरके विशिष्ट ज्ञान-स्वरूप मानना होगा। जबतक अन्वित वस्तुको, जैसे उक्त वाक्य-प्रयोगस्थलमें गमनसे अन्वित श्यामको, समझ न लिया जायगा तबतक उसमें पदशक्तिस्वरूप विशेषणका ज्ञान किया नहीं जा सकेगा, अतः मान लेना पड़ेगा कि शक्ति-ज्ञानसे पहलेही गमनरूप क्रियासे अन्वित श्यामका ज्ञान श्रोताको था, और जब ऐसा ज्ञान पहलेही था तो श्रोता शक्तिका ज्ञान करके फिर शाब्दबोधरूप अनुभव करने क्यों जायगा? क्योंकि गमनसे अन्वित श्याम, और श्यामसे अन्वित गमन, इसको विषय करनेवाला "श्याम जाता है" यह बोध तो श्रोताको शक्ति-ज्ञानहोनेसे पहलेही होगया, यादृश बोध ही होताहै परवर्ती शाब्दबोध।

दूसरी बात यह कि उक्तवाक्य-प्रयोगस्थलमें यदि गमनसे अन्वित श्याम नामक व्यक्तिमें "श्याम" पदकी शक्ति मानी जायगी तो तुल्ययुक्त्या श्यामसे अन्वित वर्तमान-गमन अर्थमें "जाताहै" इस पदकी भी शक्ति माननी होगी। फिर तो अन्वयांशमें अनेक शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। इतनाही नहीं, जैसे "श्याम" पदके साथ "जाताहै" इस पदको जोड़कर "श्याम जाताहै" ऐसा प्रयोग होताहै, उसीप्रकार "राम" "काम" आदि करोड़ों नामोंके साथ "जाताहै" इसे जोड़कर "राम जाताहै" "काम जाताहै" इत्यादि करोड़ों प्रयोग होतेहैं, अतः करोड़ों राम आदि नामार्थोंसे अन्वित गमन अर्थमें "जाताहै" इस पदकी करोड़ों शक्तियाँ माननी होंगी। इसीप्रकार "जाताहै" इस क्रियापदको बदलकर "आताहै" "खाताहै" आदि क्रियापद जोड़कर करोड़ों वाक्यप्रयोग होंगे। सर्वत्र बोध संपादनके लिए आना खाना आदि करोड़ों क्रियाओंसे अन्वित श्याम व्यक्तिमें एक श्याम पदकी करोड़ों शक्तियाँ माननी होंगी। यदि एकही शक्ति मानी-

जाय तो "श्याम जाताहै" इस वाक्यसे श्यामका जाना, खाना आदि करोड़ों क्रियाएँ समझी जायेंगी, और साथही राम काम आदि करोड़ों प्राणी जातेहुए समझे जायेंगे, जैसा कि होता नहीं, अतः अन्विताभिधानवाद माननीय नहीं। यदि अन्वय या अन्वितमें पदशक्ति माननेका आग्रह छोड़कर वस्तुमात्रमें पदकी शक्ति मान ली जाय, तो फिर और अंशमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती, इसकी प्रक्रिया फलतः सिद्धान्तरूपसे लिखित प्रक्रिया ही हो जाती। तब यह वाद अन्विताभिधानवाद ही नहीं रह जाता।

अभिहितान्वयवाद इसलिए सङ्गत नहीं कि शाब्दबोधसे पहले पदगत अज्ञात शक्तिके प्रभावसे पदार्थोंका अभिधान नामक अनुभव होताहै, और अतः पदार्थ अभिहित होजातेहैं, यह बात नहीं मानी जासकती। यदि प्रकृत शाब्दबोधके पहले और उस अभिधानरूप पदार्थानुभवके अनन्तर मध्यमें अनुव्यवसाय होता कि "मुझे इन पदार्थोंका स्वतन्त्ररूपसे अनुभव हुआ है" तो ऐसा माना जासकता, परन्तु ऐसा होता नहीं। विषयका प्रकाशन ज्ञानसे ही होताहै, अतः पूर्ववर्ती व्यवसाय नामक ज्ञानका स्वरूप-परिचय अव्यवहित-परवर्त्ती अनुव्यवसाय ज्ञानसे ही मिल सकताहै। जैसे "यह पुस्तकहै" यहाँ इस पुस्तकके ज्ञानका परिचय "मैंने इस पुस्तकको जाना" इस ज्ञानसे होताहै। दूसरी बात यह कि इस मतवादमें जब शक्ति-ज्ञानका कोई प्रयोजन नहीं माना जाता, अज्ञात पदशक्तिसे ही चरम-बोधतक मान लियाजाताहै, तब तो सब वक्ताके वाक्योंसे सब श्रोताको बोध होजाना चाहिए, विभिन्न भाषाकी शिक्षाका कोई प्रयोजन न होना चाहिए। शब्दगत-शक्ति तो सबकेलिए समानही रहेगी, फिर किसीको बोध होगा तो अन्यको क्यों नहीं होगा? तत्तद्-भाषाओं

के पदोंकी शक्तियोंका तत्तद्-वस्तुमें ज्ञानार्जन ही तो है तत्तद्-भाषाकी शिक्षा-प्राप्ति? जब पदशक्तिज्ञानकी कोई अपेक्षा ही न रहेगी, तो फिर शिक्षा क्या, और क्यों ली जायगी? तीसरी बात यह कि, इस पक्षमें अर्थस्मरणको व्यापार न मानकर "अभिहित" अर्थको, याने वस्तुको मध्यवर्त्ती व्यापार माना जाताहै। व्यापारके विना कहीं कार्य होता नहीं, और बोधविषय वस्तुस्वरूप व्यापार शाब्दबोधस्थलमें रहती नहीं। यदि वह रहती तो शाब्दबोध-स्वरूप परोक्ष-बोध क्यों होता? साक्षात्कारात्मक अपरोक्ष बोधही होता। जब अर्थस्वरूप व्यापार नहीं रहा तो शाब्दबोधस्वरूप कार्य कैसे हो सकेगा? अतः यह वाद सर्वथा ही अवाञ्छनीय है।

यहाँ शक्ति-शब्दका प्रयोग "वाच्यता" अर्थमें किया गयाहै। इस शक्तिके रूढ़ि योगरूढ़ि आदि प्रभेदोंकी चर्चा पहले की जा-चुकीहै, तदनुसार रूढ़, योगरूढ़ आदि शक्त-पदोंके प्रभेदों और "जह-त्स्वार्था" "अजहत्स्वार्था" आदि प्रदर्शित लक्षणा-भेदोंके अनुसार लक्षक पदोंके प्रभेद ज्ञातव्य हैं। पदके स्वरूपमेंभी मतभेद पाया जाताहै। कुछ लोग सुबन्त और तिङन्तको पद कहते हैं, और कुछ अन्य लोग "सुप्" एवं "तिङ्" को स्वतन्त्र "प्रत्यय" पद और उनके अव्यवहितपूर्वरूपसे श्रूयमाणको स्वतन्त्र "प्रकृति" पद मानते हैं। जैसे—"श्यामको राम देख रहाहै" एतादृश वाक्य-प्रयोगस्थलमें कुछलोग "श्याम" इतनेको स्वतन्त्र "प्रकृति" पद और "को" इतनेको स्वतन्त्र प्रत्यय-पद मानतेहैं। इसीप्रकार "जाताहै" इसे कुछलोग एकपद मानतेहैं और कुछलोग इसके अन्दर "धातु" और "प्रत्यय" इन दोनों को पृथक् पद मानतेहैं। इसीप्रकार अन्य वाक्य-प्रयोगस्थलमें भी समझना चाहिए। कुछ-लोग पदके समान पूरे वाक्यकी भी शक्ति (वाच्यता) वस्तुमें मानतेहैं। इस मतमें लक्षणा भी वाक्यकी मानी ही जायगी। क्यों-

कि शक्यसम्बन्ध ही होती है लक्षणा, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। कुछ ऐसेभी वादी पाये जातेहैं जो वाक्यकी शक्ति न मानते हुए भी लक्षणा उसकी मानतेहैं। वे लोग "शक्यसम्बन्धको" लक्षणा न कहकर "बोध्यसम्बन्ध" को लक्षणा मानतेहैं। वाक्यलक्षणा "उसके घर विष खाओ" इत्यादि पूर्वोक्त प्रयोगस्थलमें समझनी चाहिये। क्योंकि इस पूरे वाक्यसे यह लक्षित होताहै कि "उसके घर मतखाओ"। शक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें भी मतभेद पाया जाताहै। कुछलोग उसे एक स्वतन्त्र पदार्थ मानतेहैं, उनका कहना यहहै कि आगमें जैसे दाहक-शक्ति है और वह शक्ति स्वतन्त्रवस्तु है, उसीप्रकार शब्दशक्तिको भी सङ्केतस्वरूप अर्थात् वक्ताकी इच्छास्वरूप मान लेनाही श्रेयस्करहै। आगमें भी दाहकशक्ति कोई आगसे अतिरिक्त स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, यह बात द्रव्यग्रन्थमें बतलायी जाचुकीहै। इस शक्तिको दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिए, जैसे—(१) वाचकता और (२) वाच्यता। वाचकता शब्दमें रहतीहै, और वाच्यता रहतीहै अर्थमें। जैसे—"श्याम" इस नाममें रहतीहै वाचकता, क्योंकि वह नाम होताहै वाचक, और "श्याम" नामवाले मनुष्यमें रहती वाच्यता, क्योंकि वह मनुष्य होताहै उस "श्याम" नामका वाच्य। कुछलोग वाचकताको मानतेहैं शब्दमें रहनेवाली बोध-कारणतास्वरूप और वाच्यताको मानतेहैं, शाब्दबोधकी विषयतास्वरूप। अर्थात् इस मतवादमें शाब्दबोधमें रहनेवालीहै जो जन्यता, उसके आश्रयभूत शाब्दबोधका विषय होताहै वाच्य, उसमें रहतीहै वाच्यता।

———

शक्तिज्ञानके उपाय

शब्द सुननेके अनन्तर शक्ति-ज्ञानके सहारे अर्थका स्मरण होताहै, क्योंकि किसीभी सम्बन्धके एक सम्बन्धीका ज्ञान होनेपर

अनायास अपर सम्बन्धीका स्मरण होआताहै। किसीकी पुस्तकको देखकर पुस्तकवालेकी याद आ जातीहै, क्योंकि पुस्तक और पुस्तकवाले ये दोनोंही एक "स्वत्व" सम्बन्धके सम्बन्धी होते। ये बातें पहले बतलायी जाचुकीहैं। शक्ति-ज्ञानके प्रति विकल्प-रूपमें छः प्रकार कारण होतेहैं—जैसे (१) व्याकरण (२) उपमान (३) कोष (४) आप्तवाक्य (५) व्यवहार और (६) प्रसिद्धपदका सान्निध्य। व्याकरणसे पद-शक्तिका ज्ञान वहाँ होताहै, जहाँ वाक्योंमें यौगिक-पदोंका समावेश होताहै। क्योंकि "धातु" का क्या अर्थहै, "प्रत्यय" किस अर्थमें हुआहै, इसका परिचय व्याकरणशास्त्रसे-ही मिलता। वस्तुतः इसे स्वतन्त्र कारण न मानकर आप्तोपदेशमें इसे गतार्थ किया जासकताहै, क्योंकि प्रयोगके अनुसार उनके निष्पादक नियमोंके उपदेशका ही तो अपर नाम व्याकरण होता-है? उपमानसे नाम और नामी इन दोनोंमें होनेवाले "वाच्य-वाचकभाव" का ज्ञानरूप उपमिति होतीहै, यहबात पहले बतलायी जाचुकीहै, अतः वहाँ प्रदर्शित उदाहरणका ही यहाँ भी उदाहरण समझलेना चाहिए। कोषसे शक्तिका ज्ञान वहाँ होताहै जहाँ "रूढ़" पदका समावेश वाक्यमें होताहै। यौगिक-शब्दभी कुछ शताब्दीके बाद अपने अर्थमें रूढ़ होजातेहैं, और कोषके अन्दर निबद्ध हो-जाने पर तो वे रूढ़तर होजातेहैं। जैसे—"विष्णु" शब्दका यौगिक अर्थ होताहै व्यापक, किन्तु "विष्णुर्नारायणः कृष्णो" इस अमर-कोषमें परिगणित होनेके कारण वह शब्द चतुर्भुज शेषशय्या-शायी लक्ष्मीपतिको समझाताहै, उस अर्थमें पूर्ण "रूढ़" हो गयाहै। इसीप्रकार किसीभी भाषाके कोषमें आ जानेवाले शब्द उस कोष-प्रतिपादित अर्थमें "रूढ़" होजायाकरतेहैं, जनता उससे उस अर्थको उस शब्दके श्रवणमात्रसे समझ जातीहै। अतः कोषसे-भी पद-शक्तिका ज्ञान होताहै। वस्तुतः कोषभी तो व्यवहारके

अनुरूप होनेवाला आप्तवाक्य ही होताहै, अतः इसे भी स्वतन्त्र शक्तिग्राहक माननेका कोई प्रयोजन नहीं देखाजाता। आप्तपुरुषके वाक्यसे पद-शक्तिका ज्ञान होताहै, यहतो स्पष्ट ही है, क्योंकि जिस शब्दका अर्थ श्रोताको खुद मालूम नहीं होता उसे गुरुको पूछकर लोग अर्थ समझतेहैं। व्यवहारसे शक्तिका ज्ञान बच्चोंको प्रथमतः हुआ करताहै—जैसे एक वृद्धके पास बच्चा बैठाहै, वृद्धने किसी एक युवकसे कहा "गैया ले आओ" श्रोता युवक गैया ले आया, यह परिस्थिति देखकर वह बैठा-हुआ बच्चा यह समझताहै कि इस वृद्धके "गैया ले आओ" इस वाक्यका माने है ऐसी जन्तुको उधरसे इधर करना। अनन्तर फिर वृद्धने युवकसे कहा "गैया ले जाओ" इस आदेशके अनुसार युवक गैया ले गया, बच्चेने इसे देखकर यह समझलिया कि 'गैया ले जाओ" इसका माने होताहै इस जन्तुको इधरसे उधर करना, फिर बच्चा यह सोचताहै कि "गैया" शब्द पहलेभी कहा गया और फिर दूसरी बार भी, और यह जन्तु भी पहले तथा पीछे क्रियाशीलरूपसे देखा गयाहै। अतः "गैया" इसी जन्तुको कहतेहैं, और "ले आओ" जब कहा था, तब इस जन्तुको उधरसे इधर किया गया अतः "ले आओ" का अर्थहै उधरसे इधर करना। तथा "ले जाओ" कहनेपर इस जन्तुको इधरसे उधर किया गयाहै, अतः "ले जाओ" का अर्थहै इधरसे उधर करना। इस प्रकारसे बालक "वाच्यवाचकभाव" का निश्चय करताहै। इसीप्रकार अन्यवाक्य-प्रयोगस्थलमें भी समझना चाहिए। यह कोई नियम नहीं है कि व्यवहारसे पद-शक्तिका ज्ञान बच्चोंको ही होताहै, वयस्क लोग भी अन्य भाषा-भाषी प्रान्तमें जानेपर उक्त बालकके समान अज्ञात-शक्तिक अन्य-भाषागत पदोंकी शक्तिका ज्ञान उक्तप्रकार व्यवहारसे करतेहैं कि "इस पदका अर्थ यह है"

अगल बगल विद्यमान प्रसिद्ध पदोंके बीच आनेवाले अप्रसिद्ध पदोंका अर्थ-निर्णय प्रसिद्धपदके नैकट्यसे होताहै—जैसे "आमपर पिक कूजते" इस वाक्य-प्रयोगस्थलमें "पिक" शब्दका अर्थ अज्ञात होनेपर प्रबुद्धलोग "आमपर" और "कूजते" इन अगल बगलके शब्दोंका सान्निध्य समझकर इस निर्णयपर पहुँच जाते कि "पिक" नाम कोकिलका है। कोकिल उस शब्दका वाच्य अर्थहै। कुछलोग वाक्यशेष तथा विवरण इन दोनोंको भी स्वतन्त्र शक्ति-ग्राहक मानतेहैं। "वाक्यशेष" उस वाक्यको कहतेहैं, जो कि एकवाक्यगत अज्ञात-शक्तिक-पदके अर्थकोसमझानेकेलिए अन्यत्र प्रयुक्त होताहै। और "विवरण" उस वाक्यको कहतेहैं, जो प्रथमवार वाक्यप्रयोगसे श्रोताको बोध न होनेपर—दुबारा तदर्थक अन्य वाक्य प्रयुक्त होताहै, जैसे—"पाक करताहै" इसका विवरण होताहै "रसोई कर रहाहै"। इन दोनोंकी आप्त-वाक्योंमें गतार्थता अतिस्पष्ट है, अतः मैंने इन दोनोंका उल्लेखभी नहीं किया। तत्त्वतः (१) उपमान (२) आप्तवाक्य (३) व्यवहार और (४) प्रसिद्धपदकी सन्निधि, ये चारही पद-शक्तिके निर्णायक होतेहैं। कुछ दार्शनिक इनमें केवल व्यवहारको शक्तिका निर्णायक मानतेहैं। परन्तु यह बात सङ्गत नहीं, क्योंकि उक्त अन्य कारणोंसे भी पद-शक्तिका निर्णय लोगोंको होताहै, इसमें कोई प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं, प्रदर्शित परिस्थितियोंमें सभीको इनसे पद-शक्तिका निर्णय होता ही है। हाँ यह बात ठीकहै कि बालकोंको पद-शक्तिका निर्णय केवल उक्तप्रकार व्यवहारसे ही होताहै। अन्यत्र उससे कुछ अधिक प्रबोधकी अपेक्षा होतीहै।

कुछलोग "शाब्दबोध"को स्वतन्त्र "प्रमिति" अर्थात् अनुभवात्मक-ज्ञानका स्वतन्त्र प्रभेद नहीं मानना चाहते। उनका

कहना यह है कि जैसे प्रत्यक्ष-धूमसे अप्रत्यक्ष-आगकी अनुमिति होजातीहै उसीप्रकार श्रावणप्रत्यक्ष-विषय शब्दसे अर्थकी अनुमिति हो जातीहै, ऐसा मानकरही निर्वाह हो सकताहै, शाब्दबोधको स्वतन्त्र अनुभव नहीं मानना चाहिए, किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि अनुमिति-स्थलमें "अनुमेय" और "अनुमापक" इन दोनोंके सामानाधिकरण्यका निश्चय अपेक्षित होताहै, यह बात पहलेही दिखलायी जा चुकीहै, शाब्दबोध-स्थलमें—किन्तु सर्वत्र इसकी सम्भावना नहीं रहती। जैसे—किसी अभिनव कविके अभिनव काव्यश्रवणसे जहाँ जो वाक्यार्थ-बोध होताहै वहाँ उससे पहले न तो वह काव्य कभी सुना रहताहै और न वह विलक्षण अर्थही मालूम रहताहै। जबकी अनुमेयरूपसे अभिमत अर्थ और अनुमापकरूपसे अभिमत काव्य ये दोनोंही अत्यन्त अपरिचित होतेहैं, फिर कैसे एकसे अपरकी अनुमिति होतीहै, यह कहा जासकता? अतः शाब्द-बोधको एक स्वतन्त्र अनुभव माननाही चाहिए।

कुछलोग स्थलविशेषमें वाक्यसे भी शाब्दबोध न मानकर प्रत्यक्ष मान लेतेहैं। उनका कहना यहहै कि वाक्यका प्रतिपाद्य-विषय जहाँ इन्द्रियसे सन्निकृष्ट होताहै वहाँ वाक्यसे भी प्रत्यक्ष होताहै, जैसे—माला गलेमें लटक रहीहै, किन्तु मनकी अव्य-वस्थासे यह समझकर कि माला कहीं खो गयी, कोई उद्विग्न हो उठा। इसे देखकर पार्श्ववर्त्ती किसीने उसे कहा कि "माला तो गलेमें ही है" यह सुनताहुआ वह मालाधारी मालाकी ओर नजर फेरकर "माला गलेमें ही है" इसप्रकार प्रत्यक्ष करताहै। यह प्रत्यक्ष उस पार्श्ववर्त्ती वक्ताके वाक्यसे होताहै, अतः उसे वाक्यज-प्रत्यक्ष मानना चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहींहै, उक्त प्रत्यक्ष वाक्यसे नहीं होता, इन्द्रियसे ही

होताहै। वाक्यसे प्रत्यक्ष-विषय उस मालाकी ओर उस मालाधारी की अभिमुखता मात्र होतीहै। यदि यह बात नहीं तो वे लोग केवल सन्निकृष्ट-विषयकस्थलमें ही ऐसा क्यों मानते, असन्निकृष्ट-विषयक स्थलमें भी वाक्यजन्यबोधको प्रत्यक्ष ही क्यों नहीं मानलेते? इससे यह स्पष्टहै कि उक्तप्रकार ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्षजन्यही होता, वाक्यजन्य नहीं। वाक्यसे केवल आभिमुख्य होताहै।

जहाँ वाक्यका उच्चारण नहीं होता, बोध चेष्टासे, अर्थात् इशारे से होताहै, किंवा चुपचाप अक्षरोंको देखनेसे होताहै, वहाँ शाब्दबोध ही होताहै। इशारेसे या लिपिसे वाचकशब्दोंका स्मरणात्मक-ज्ञान हो आताहै, उससे वाच्य अर्थोंका स्मरण होताहै, उससे शाब्दबोध होजाताहै। यही कारणहै कि परवर्त्ती दार्शनिकोंने शाब्दबोधके प्रति शब्दको साधकतम मानाहै। उक्त स्थलोंमें वाचक-शब्द प्रयुक्त न होनेपर भी इशारेसे या लिपिसे उसका ज्ञान हो आताहै। किंवदन्तीसे होनेवाले बोधको भी कुछलोग स्वतन्त्र अनुभव मानाहै। जैसे—"इस बरगदपर यक्ष बसताहै" इस परम्पराप्राप्त-प्रवादसे लोगोंको यह निश्चय होताहै कि "इस पेड़पर यक्ष रहताहै"। परन्तु यदि इस किंवदन्तीमें "आप्तपुरुष-वाक्यता" का निर्णय श्रोताको हो तब तो उक्त वाक्यसे शाब्दबोधही होजायगा। और यदि उस वाक्यमें "आप्तोक्तता" का निश्चय न होगा तो अर्थनिश्चयात्मक बोधही न होगा, फिर उसे अतिरिक्त "प्रमा" अनुभव माननेकी बात ही नहीं रहजाती। "आनुपलब्धिक" बोध कोई स्वतन्त्र अनुभव नहीं हैं, इसका विवेचन प्रत्यक्षज्ञानके विचारस्थलमें किया जा चुकाहै। अर्थात् अभावका भी प्रत्यक्ष ही होताहै।

स्मृति-ज्ञान

स्मृति-स्मरण, उपस्थिति ये शब्द पर्यायवाची हैं। स्मृतिज्ञान उसे कहतेहैं जो कि प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति या शाब्दबोध इनमेंसे किसी एक अनुभवके होनेपर उत्पन्न हुए "भावना" नामक संस्कारसे उत्पन्न होताहै। जैसे—कोई एक युवक पहले सापेक्ष दृष्टिसे किसी एक युवतीको देखताहै। इस प्रत्यक्षात्मक अनुभवसे उस युवकको उस युवतीके विषयमें एक "भावना" नामक वासना उत्पन्न होतीहै, जो उस युवक-आत्मामें सोयी पड़ी रहतीहै। उसके किसीभी उद्बुधकके जुटनेपर जब जब वह युवती-विषयक वासना उद्रिक्त होती अर्थात् उद्बुद्ध होतीहै, तब तब उस युवकको वह युवती याद आया करतीहै। इसी याद आनेका नामहै स्मरण, स्मृति, आदि। सारकथा यह हुई कि इन्द्रिय आदि प्रमाणोंकी अपेक्षा न कर भावनासे जो ज्ञान उत्पन्न होताहै, वह होताहै स्मरण। जहाँ किसीभी वस्तुको अपेक्षाभरी दृष्टिसे देखा, और देखनेसे "भावना" नामक वासना बनी, जिसके उद्रिक्त होनेसे बीच बीचमें वह दृश्य याद भी आता रहा, और फिर—द्वितीयबार उसे देखनेका अवसर मिला, प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष हुआ कि "यह वही है" वहाँ यह प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्षभी यद्यपि भावनासे उत्पन्न होताहै, किन्तु वहाँ इन्द्रियकी याने आँखकी भी अपेक्षा रहती। प्रमाण—निरपेक्षभावनासे वह 'प्रत्यभिज्ञा" नहीं उत्पन्न होती, अतः वह स्मरण नहीं कहलाती। कुछलोग प्रत्यभिज्ञाको एक ज्ञान नहीं मानते। उनका कहनाहै कि "वही" इतना एक स्मरणात्मक ज्ञान होताहै, और "यह है" यह एक प्रत्यक्षहै, इन दोनों ज्ञानोंको मिलाकर लोग उन्हें प्रत्यभिज्ञा शब्दसे पुकारतेहैं। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि "यह वही है" इस ज्ञानमें

"वही" यह बीचमें पड़ जाताहै, "यह" और "है" ये दोनों अगल बगल पड़ जातेहैं। निरवयव प्रत्यक्ष-ज्ञानके बीच निरवयव स्मरण ज्ञान कैसे प्रविष्ट हो जायगा? अतः यह उत्तर ठीक नहीं, कि स्मरण अंश भावनासे उत्पन्न होता, और प्रत्यक्ष-अंश इन्द्रियसे।

कुछलोग स्मरणको स्वतन्त्र ज्ञान नहीं मानते। उनका कहना-है कि अनुभव ही मध्य-व्यवहित होनेपर उत्तरकालमें स्मरण कहलाताहै। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि "मध्य-व्यवहित" इसका अभिप्राय क्या? यदि यह कि बीचमें वृत्त्यन्तरका भी उदय होताहै, तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञान इच्छा यत्न आदि वृत्तियाँ युगपत् नहीं होतीं, जिससे अनुभवभी पड़ा रहेगा और इच्छा आदि अन्य वृत्तियाँभी विद्यमान रहेंगी। यदि अनुभव और स्मरणको एक माना जायगा तो फिर क्रमिक उत्पन्न होनेवाले ज्ञान इच्छा यत्न आदिको एक न माननेमें क्या युक्ति दी जा सकेगी? यदि इन सबको एक मान लियाजाय तो कार्यभेद नहीं बन सकेगा जैसे—ज्ञानके अनन्तर इच्छा होतीहै, किन्तु इच्छा हुए विना ज्ञानसे प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिसे याने प्रयत्नसे बाह्य चेष्टा होतीहै किन्तु केवल ज्ञानसे नहीं होती। इच्छासे प्रवृत्ति होतीहै किन्तु प्रवृत्तिसे इच्छा नहीं होती। ये सब बातें नहीं बन सकेंगी, सबके अव्यवहित उत्तर सब अबाधितरूपसे होने लगेंगे, किन्तु होते नहीं। अनुभव और स्मरणको एक होनेकी बात तो दूर रहे, एकही आत्मामें एक ही वस्तुको विषय करनेवाले विभिन्न-कालिक स्मरण भी एक नहीं हो सकते। स्वप्न-ज्ञान भी स्मरणरूप ही होताहै। जिन विषयोंका अनुभव प्राणी जागरणकालमें करतेहैं अधिकतर उन्हीं विषयोंको स्वाप्नावस्थामें देखतेहैं। यदि कोई ऐसा स्वप्न

होताहै कि उसका विषय इस जन्ममें अनुभूत नहीं रहता, तो वहाँ जन्मान्तरीय तद्विषयक अनुभव मानना चाहिए, यह नहीं कहा जा सकता कि जन्मान्तरीय अनुभव-जनित वासनाके सहारे जन्मान्तरमें तद्विषयक स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर शिशुको प्राथमिक-दुग्धपानमें प्रवृत्ति नहीं होसकेगी। जबतक जिसे प्राणी इष्टका साधन नहीं समझलेता, अभिप्रेत फलका उपाय नहीं समझता, तबतक उस विषयमें उसे प्रवृत्ति कभी नहीं होती। अतः मानना होगा कि शिशु, प्राथमिक दुग्धपानसे अव्यवहित पूर्वमें उस दुग्धपानको जीवनका साधन, शरीर-रक्षाका उपाय समझताहै। किन्तु यह उसका समझना अनुभव स्वरूप नहीं होसकता, क्योंकि सद्योजात शिशु, कार्य क्षम-इन्द्रिय आदि अनुभव-साधनोंसे तबतक सम्पन्न नहीं रहता, अतः "दुग्धपान इष्टका साधनहै, जीवनोपायहै" इस ज्ञानको स्मरण मानना होगा, स्मरण पूर्वानुभवके बिना नहीं होता, और इस जन्ममें इससे पहले उसे अनुभव हुआ नहीं रहता, अतः यह माननाही पड़ताहै कि "दुग्धपान इष्टका साधनहै" यह पूर्वजन्मान्तरीय अनुभव ही स्वजन्य-भावनाके सहारे सद्योजात शिशुको स्मरण करादेताहै। इसीप्रकार कभी जन्मान्तरके अनुभवसे भी जन्मान्तरमें स्वप्न हो सकताहै। यादृश स्वप्न स्थलमें जन्मान्तरमें भी समानविषयक अनुभवकी सम्भावना नहीं तादृशस्थलमें अनेक-अनुभव-समुत्थ विभिन्नसंस्कारोंके मिलनसे स्वप्न-स्मरणकी उपपत्ति करनी चाहिए। जैसे द्रष्टा यदि कभी स्वप्नमें यह देखताहै कि "मेरा शिर काट दियाहै" तो यहाँ ऐसा एक अनुभव जन्मान्तरमें भी होना असम्भूत मालूम होता, किन्तु अपना अनुभव और किसी अन्यके शिर काटनेका अनुभव इन दो अनुभवोंसे होनेवाले दो संस्कार (भावना) मिलकर उक्त-प्रकार स्मरण करासकतेहैं। वस्तुतः अनुमिति और शाब्दबोध

इन दोनोंके भी अनुभवरूप होनेके कारण स्वकीय शिर कटनेकी अनुमिति या शाब्दबोध अनायास इस जन्म या जन्मान्तरमें हो सकताहै, उससे उत्पन्न भावनाके सहारे उक्तप्रकार स्वप्नकेभी होनेमें कोई बाधा नहीं दीख पड़ती।

स्वप्नमें अविद्यासे विषयोंकी उत्पत्ति होती है, वहाँका विषय प्रातिभासिक होता है। इस मतवादकी समीक्षा अनिर्वचनीयख्यातिके विचारावसरपर की जायगी। वस्तुतः स्वप्नज्ञानको भ्रमात्मक मानस प्रत्यक्ष मानना चहिए, क्योंकि स्मरणमें विषयकी अतीतताका भी विषयीकरण होताहै किन्तु स्वप्नमें विषय वर्तमानरूपसे भासताहै।

—०—

ज्ञानके अन्यप्रभेद

ज्ञानोंका विभाजन "प्रमा" और "अप्रमा" इन दो भागोंमें भी होताहै। यथार्थज्ञानका अपर नाम है प्रमा और अयथार्थ-ज्ञानका अपर नामहै अप्रमा। जो वस्तु जहाँ और जैसी हो उस वस्तुको वहाँ और वैसी ही समझना, यही होताहै यथार्थज्ञान। जैसे-चाँदीको यदि "यह चाँदी है" इसप्रकार समझाजाय तो यह ज्ञान होताहै यथार्थ। क्योंकि तत्त्वतः वह चाँदी ही वहाँहै जिसे चाँदी समझा जारहाहै। कुछ दार्शनिकोंका कहनाहै कि ज्ञानका विषय यदि बाधित नहीं हो तो ज्ञान यथार्थ कहलाताहै। यदि चाँदीको ही चाँदी समझा जाताहै कि "यह चाँदी है" तो उसके अनन्तर "यह चाँदी नहीं है" इस प्रकार बाधज्ञान नहीं होता, अतः पूर्ववर्ती "यह चाँदीहै" यह ज्ञान यथार्थ होताहै। जहाँ "सीप" को यह समझा जाताहै कि "यह चाँदी है" वहाँ यह बात नहीं होती, वहाँका विषय बाधित होताहै। क्योंकि जब वह द्रष्टा उस चमकती हुई वस्तु (सीप) के पास पहुँचकर

उसे उठाताहै तो "यह चाँदी नहीं है" इसप्रकार बाध-निश्चय याने चाँदीका अभावनिश्चय होनेके कारण पूर्ववर्ती "यह चाँदी है" इस ज्ञानका विषय चाँदी वहाँ बाधित होजाता। विषय बाधित होनेके कारण "यह चाँदी है" यह प्राथमिक-ज्ञान यथार्थ नहीं अयथार्थ होजाता। परन्तु यह व्याख्या उचित इसलिए नहीं मालूम होती कि दिग्भ्रम आदि स्थलोंमें कहीं कहीं आजीवन ही अयथार्थज्ञानही रहजाताहै, कभी विपरीतनिश्चय स्वरूप बाधनिश्चय नहीं होता। जैसे—कोई पूरब को "यह दक्षिणहै" ऐसा समझा, और पीछे उसे "यह दक्षिण नहीं पूरब है" ऐसा ज्ञान कभी नहीं हुआ, तो वह पूर्ववर्ती "यह दक्षिण है' इस ज्ञानका विषय अबाधित हो रह जाताहै। ऐसी परिस्थितिमें वह "यह दक्षिण है" यह भ्रमज्ञानभी अबाधित विषयक होनेके कारण यथार्थ होजायगा। और जहाँ पूर्ववर्ती ज्ञान यथार्थहो हुआ किन्तु उसके अनन्तर भ्रमात्मक बाधनिश्चय होगया तो पूर्ववर्ती यथार्थ ज्ञानभी अयथार्थज्ञान कहलाने लगेगा, क्योंकि परक्षणमें बाधनिश्चय होनेके कारण पूर्ववर्ती यथार्थज्ञानका विषयभी बाधित कहला सकताहै। यदि यह कहाजाय कि परवर्ती बाधनिश्चयभी यथार्थज्ञानस्वरूप होना चाहिए तो यथार्थज्ञान होनेमें यथार्थज्ञानकी अपेक्षा होजायगी आत्माश्रय हो जायगा। किसी वस्तुमें उसी वस्तुकी अपेक्षा असङ्गतहै।

ज्ञानके उत्पादक कारणों में यदि "गुण" का समावेश होता है तब ज्ञान "प्रमा" होताहै। प्रत्यक्षको प्रमा होनेकेलिए विशेषणयुक्त-विशेष्यके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष "गुण" कहलाताहै। रजतको रजत समझनेसे पूर्व रजतत्व (चाँदीपन) स्वरूप विशेषणसे युक्त रजतखण्डके साथ आँखका संयोग सन्निकर्ष होनेके कारण ही चाँदीको "यह चाँदी है" यह देखना यथार्थ-प्रत्यक्षज्ञान

होताहै। सीपको चाँदी देखते समय यह बात नहीं होती, वहाँ "यह चाँदीहै" इस अप्रमा प्रत्यक्षसे अव्यवहित पूर्वमें रजतत्व विशेषणसे युक्त विशेष्यके साथ आँख नहीं जुटी होती, किन्तु शुक्तित्वसे युक्त सीपके साथ। यही कारणहै कि सीपको यह चाँदीहै" ऐसा समझना अयथार्थ-प्रत्यक्ष होताहै। अनुमिति प्रमा-स्थलमें अनुमेयसे युक्त पक्षमें परामर्श होना "गुण" होताहै। जैसे—"वह्निव्याप्यधूम पर्वतमें है" ऐसा परामर्श होनेके कारणही "पर्वत वह्निमान्‌है" (पर्वत आगवालाहै) यह अनुमिति यथार्थ होतीहै। क्योंकि अनुमेय आगसे युक्त पर्वतमें ही उक्ताकारक परामर्श-ज्ञान अनुमितिके पूर्व हुआ होताहै। यदि "वह्निव्याप्यधूम जलमें है" इस प्रकारसे अनुमेय-आगसे तत्त्वतः रहित जलमें धूम-का परामर्श हो, तो उससे होनेवाली "जलमें आगहै" यह अनु-मिति यथार्थ अनुमिति नहीं होती, क्योंकि जल अनुमेय आगसे युक्त नहीं, जिसमें वह्निव्याप्य-धूमको पहले समझा गयाहै, अतः अनुमितिके लिए साध्ययुक्त-धर्मीमें परामर्श होना "गुण" कहला-ताहै। वनमें जाकर यदि तत्त्वतः "विषहरिणी" बूटी को ही "यह मूँगके पत्तेके समान पत्तेवालीहै" इस प्रकार सादृश्यज्ञान उपमाता करताहै, तो "यह विषहरिणी बूटीहै" इस प्रकार होने-वाली उपमिति यथार्थ उपमिति होतीहै। किन्तु यदि कहीं अन्य बूटीमें उक्त प्रकार सादृश्य-ज्ञान उपमाता कर बैठताहै तो "यह विषहरिणी बूटीहै" यह उपमिति यथार्थ उपमिति नहीं होती, क्योंकि वह कोई और ही बूटी होतीहै, जिसे "विषहरिणी" समझा जाताहै। अतः प्रकृत वाच्यार्थमें सादृश्य का ज्ञान होना उपमिति-केलिए "गुण" है। शाब्दबोधके लिए विशेष्यमें विशेषणका यथार्थ-ज्ञानस्वरूप यथार्थ "योग्यता ज्ञान" गुण कहलाताहै, क्योंकि इसके अभावमें शाब्दबोध अयथार्थ होजाताहै। यही

कारणहै कि "आगसे सींचो" इस वाक्यसे यथार्थ शाब्दबोध नहीं होता, क्योंकि सिंचनेके साथ तत्त्वतः आग का सम्बन्ध नहीं होता। आगका सम्बन्ध जलानेसे होसकताहै सींचने से कभी नहीं।

यथार्थज्ञानके प्रति कारण होनेवाले इन्हींको "गुण" शब्दसे इसलिये कहा जाताहै कि साधारणतया किसीमें उत्कर्षका आधायक वस्तुको सभी लोग "गुण" शब्दसे पुकारतेहैं।

"ये बड़े गुणी हैं" एतादृश प्रयोग-स्थलमें गुणयोगके सहारे व्यक्तिका उत्कर्ष समझा जाताहै। प्रकृतमें भी इन प्रदर्शित कारणोंके सहारे ज्ञानमें "याथार्थ्य"स्वरूप उत्कर्षका आधान होताहै अतः इनको गुण शब्दसे पुकारना उचित ही है कुछलोग इन गुणोंको यथार्थज्ञानके प्रति कारण नहीं मानते। उनका कहना यह है कि "दोष" अयथार्थज्ञानके प्रति याने मिथ्याज्ञानकेप्रति कारण होताहै, अतः दोषोंका अभावही यथार्थ-ज्ञानके प्रति कारणहै। जैसे--आँखमें "पीलिया" रोग होजानेपर शङ्ख आदि सफेद पदार्थ नजर आतेहैं, यह "शंख पीलाहै" इत्यादि अयथार्थ-ज्ञान होताहै और उस "पीलिया" रोगके हट जानेपर "शंख पीलाहै" ऐसा भ्रमज्ञान न होकर "शंख उजलाहै" इसप्रकार यथार्थज्ञान होताहै। जबकी "पीलिया" रोगस्वरूप दोषके होनेपर अयथार्थ और उसके हट जानेपर यथार्थ-ज्ञान होताहै तब दोषके अभावको ही यथार्थज्ञानके प्रति कारण मानना चाहिये इत्यादि। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि यदि "दोषाभाव" मात्रको ज्ञानमें यथार्थताका नियामक मानेंगे तो "यह शङ्ख पीलाहै" इस ज्ञानके अन्तर्गत "यह शंखहै" इस अंशमें भी यथार्थता नहीं हो सकेगा क्योंकि "पीलिया" रोगस्वरूप दोष विद्यमान है, दोषका अभाव नहीं है किन्तु यह उचित नहीं क्योंकि "यह शंख पीलाहै"

यहाँ "पीला है" इसे भ्रम होनेपर भी "यह शंख है" यह ज्ञान तो यथार्थ ही है, अयथार्थ नहीं। दूसरी युक्ति यह भी है कि किसीभी वस्तुमें केवल दोष न होनेसे ही उसका उत्कर्ष नहीं समझा जाताहै, दोषाभावके साथ ही यदि गुण भी हो तो उत्कर्ष समझा जाताहै। यथार्थज्ञान को दूसरे शब्दों में प्रमा भी कहतेहैं, यहाँ "प्र" शब्द प्रकर्षका सूचन करताहै, वह केवल दोषका अभावको ही कैसे कह सकता? अतः गुणकी अपेक्षा माननी चाहिये।

कुछलोग स्मरण-ज्ञानको यथार्थ-विषयक होनेपरभी यथार्थ ज्ञान नहीं मानते। उन्हें यह भय होताहै कि स्मरणको प्रमा मानने पर उसके प्रति साधकतम (करण) होनेवालेको अधिक प्रमाण मानना होगा, अतः वे यह कहतेहैं कि जिस ज्ञानका विषय पहले कभी ज्ञात न हो और परकालमें जिसका "बाध" न होता-हो वह ज्ञान होताहै यथार्थ। परन्तु सच्ची घटना के स्मरणको अयथार्थ मानना युक्तिसिद्ध नहीं मालूम होता, परकालमें बाध-निश्चय सर्वत्र भ्रमस्थलमें नहीं होता, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है, रही अधिक प्रमाणके भयकी बात, परन्तु इसके समाधानमें यहभी कहा जासकताहै कि "स्मरणसे अन्य प्रमाके प्रति साधकतम (करण) होनेवाला होताहै प्रमाण" इसप्रकार कहनेपर स्मरणके प्रति साधकतम होनेवाला प्रमाण नहीं कहलायेगा क्योंकि स्मरण स्मरणसे अन्य नहीं।

—o—

अप्रमा-ज्ञान

"अप्रमा" और "अयथार्थज्ञान" ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। जहाँ जो वस्तु न हो वहाँ उसे समझना, और जो जैसा न

हो उसे वैसा समझना है अयथार्थ-ज्ञान। जैसे—"सीप" को "यह चाँदी है" इसप्रकार चाँदी समझना अयथार्थज्ञान है। ज्ञानके कारण-कलापमें जब दोषका भी प्रवेश होता तब ज्ञान अयथार्थ होताहै। दोष इन्द्रियगत हो या विषयगत। इन्द्रियगत-दोषसे अप्रमा होनेका उदाहरण पूर्वोक्त "शंख पीला है" इस ज्ञानको समझना चाहिए। विषयगत-दोषसे होनेवाले भ्रमका उदाहरण-स्थल उसेभी कहा जासकताहै जहाँ सीपको "यह चाँदी है" इसप्रकार चाँदी समझा जाताहै। क्योंकि वहाँ आँखमें कोई दोष नहीं है, किन्तु सीपमें "चाकचक्य" (चकमकाहट) दोष है, इसी कारणसे उक्त ज्ञान अप्रमाज्ञान होताहै। यह नहीं कहा जासकता कि यथार्थज्ञानके प्रति उक्तप्रकार "गुण" कारण होतेहैं तो उन गुणों के अभावको ही अयथार्थ-ज्ञानके प्रति कारण मानना चाहिए, दोषको नहीं। क्योंकि पदार्थमें "गुण" (प्रकर्ष) न होना कोई अपराध नहीं, किन्तु दोष होना अपराध है। अप्रमा-ज्ञानके मूलमें दोषके होनेसे ही वह अपकृष्ट अवाञ्छनीय होताहै, जिसका सूचन "अप्रमा" इस नामके अन्दर आनेवाले "अप्र" शब्दसे होताहै। अतः दोषको अप्रमा-ज्ञानके प्रति कारण माननाही होगा। यहाँ एक बात ध्यान रखनी चाहिये कि जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझना जैसे अप्रमा-ज्ञानहै, उसीप्रकार जो जैसाहै उसे वैसा न समझते हुए उसका ज्ञानभी अप्रमा-ज्ञान है, अतः "यह क्या है" यह संशयात्मक ज्ञान भी अप्रमा-ज्ञान कहलाताहै।



अप्रमा-ज्ञानके प्रभेद

"अप्रमा-ज्ञान" के प्रभेद तीनहैं, जैसे (१) संशय (२)

विपर्यय और (३) तर्क। संशय उस ज्ञानको कहतेहैं जिससे जिज्ञासा अर्थात् किसी वस्तुको जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो, जिसविषयमें संशय होताहै, उसेही लोग समझ लेना चाहतेहैं। समझलेनेकी इच्छाका ही नाम होताहै जिज्ञासा, विषयका निर्णय होजानेपर फिर उसे समझलेनेकी इच्छा कभी किसीभी निर्णेताको नहीं होतीहै, अतः जिज्ञासाके प्रति कारण होनेवाले ज्ञानको भली-भाँति "संशय" कहा जासकता। "यह अमुक वस्तु है या नहीं?" इत्यादि ज्ञान होताहै संशय। क्योंकि इसके अनन्तर प्राणी उपाय-करके यह निश्चय करताहै कि "यह अमुक वस्तु है" "यह अमुक वस्तु नहीं है" "यहाँ अमुक है" "यहाँ अमुक वस्तु नहीं है" इत्यादि। कुछ लोगोंका कहना है कि किसी एक धर्मीमें अर्थात् आश्रयमें परस्पर-विरुद्ध भाव एवं अभाव इन दोनोंको विशेषण बनाकर यदि ज्ञान कियाजाय तो वह ज्ञान कहलाताहै संशय। जैसे—"यह धनी है या नहीं" "फूल सुगन्धवाला है या नहीं" इत्यादि ज्ञान संशय होतेहैं। क्योंकि "इस" व्यक्तिरूप आश्रयमें धन और धनके अभाव इन दोनों विरुद्ध पदार्थोंको विशेषण बनाकर, और फूलस्वरूप आश्रयमें सुगन्ध और उसके अभाव इन विरुद्ध दो वस्तुओंको विशेषण बनाकर उक्त ज्ञान किया जाता है। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि इसप्रकार संशय-ज्ञानका निर्वचन करनेपर "यह क्या है" इस प्रकारका ज्ञान संशय नहीं कहला सकेगा। क्योंकि इस ज्ञानमें भाव और अभाव ये दोनों विरुद्ध पदार्थ विशेषण नहीं होतेहैं। यदि यह कहाजाय कि "यह क्या है" यह ज्ञान संशय नहीं, किन्तु एक स्वतन्त्र "अनध्यवसाय" नामका ज्ञान है, तो यह इसलिए उचित नहीं होगा कि प्राचीन तथा नवीन दोनों पदार्थशास्त्रियोंने असाधारण-धर्म-ज्ञानको भी संशयके प्रति कारण मानाहै। यह अनुभवसिद्ध भी है कि किसीमें

असाधारण स्वभाव देखनेपर निश्चय नहीं होपाताहै कि "यह अमुक है" किन्तु ऐसा ज्ञान होताहै कि "यह क्या है" "यह कौन है"—इत्यादि। जैसे—द्रष्टा यदि किसी मनुष्यकी आकृति असाधारण देखताहै, किसी देश-विशेषके मनुष्यकी आकृतिसे मिलती-जुलती आकृति नहीं देखताहै तो उसे यह अनिश्चयात्मक-ज्ञान उत्पन्न होता कि "यह किस देशका है"। इसीप्रकार किसीभी वस्तुकी आकृति जब अपरिचित देखताहै तो ऐसा अनिश्चयात्मक-ज्ञान द्रष्टाको उत्पन्न होताहैकि "यह क्या वस्तु है"। अतः उक्तप्रकार अनध्यवसाय-ज्ञानके प्रति असाधारण धर्मका, याने अन्यत्र अपरिचित स्वभावका ज्ञान कारण होताहै, यह मानना ही होगा। और असाधारणधर्मका ज्ञान संशयके प्रति कारण है, यह भी लोगोंने मानाहीहै, फिर उक्तप्रकार अनध्यवसायोंको एक स्वतन्त्र प्रमा और अप्रमासे भिन्न ज्ञान कैसे माना जा सकता?

अनध्यवसाय है अध्यवसायका याने निश्चयका अभाव अतः "अनध्यवसाय" अभाव पदार्थमें ही अन्तर्भुक्त होजाताहै उसे संशय नहीं मानना चाहिए, यह कथन इसलिए सङ्गत नहीं कि फिर तो सोतेहुए व्यक्तिको भी "यह क्या है" ऐसा अनध्यवसाय होना चाहिए। क्योंकि निश्चय न होनेके कारण निश्चयका अभावात्मक अनध्यवसाय उस सोनेवालेको भी रहता ही है, किन्तु "यह क्याहै" इत्यादि प्रदर्शित-ज्ञान उसे नहीं होताहै। अतः मानना होगा कि "अनध्यवसाय" पद निश्चयाभाव मात्रका वाचक यौगिक नहीं, अपितु निश्चयाभाव-सहकृत विलक्षण-ज्ञान अर्थमें रूढ़है। सुतरां अनध्यवसायको अभावमें अन्तर्भुक्त करके समस्या नहीं सुलझायी जासकती। अतः अनध्यवसाय-ज्ञानको संशय मानना ही होगा। फिर यह संशयका निर्वचन

नहीं किया जासकता कि किसी एक आश्रयमें विरुद्ध भाव एवं अभाव इन दोनोंको विशेषण करके किया जानेवाला ज्ञान संशय होताहै। कुछलोग यह कहतेहैं कि संशयके विषयोंमें "कोटिता" नामकी एक विषयता होतीहै, अतः कोटितापन्न-विषयक-ज्ञानको संशय कहा जासकताहै। जैसे "यह धनी है या नहीं" यहाँ इस व्यक्तिमें विशेषणीभूत (१) धन और (२) धनका अभाव ये दोनों अलग-अलग "कोटि" होतेहैं। इनमें "कोटिता" होतीहै, जैसे मनुष्यमें मनुष्यता, अतः धन और उसका अभाव ये दोनों कोटितापन्न अर्थात् "कोटिता"से युक्त विषय होतेहैं, और तद्विषयक होनेके कारण "यह धनी है या नहीं" यह ज्ञान संशय कहलाताहै। इसीप्रकार अन्यत्रभी समझना चाहिए। किन्तु यह कथनभी इसलिए मान्य नहीं कि उक्त "यह क्या है" इत्यादि ज्ञान फिर भी संशय नहीं कहलापाता, क्योंकि पक्षे प्राप्तिका ही अपर नाम होताहै कोटिता। "यह धनी है या नहीं" यहाँ एक पक्षमें धनकी और अपर पक्षमें उसके अभावकी प्राप्ति होतीहै, अतः धन और धनाभाव ये दोनों "कोटि" कहलातेहैं, उनमें कोटिता रहतीहै। "यह अमुक वस्तुभी नहीं, और अमुक वस्तुभी नहीं, फिर क्या है" इस अनध्यवसाय स्थलमें तो किसीभी विषयकी पक्षे-प्राप्ति नहीं होती, अतः इसे कोटितापन्नविषयक कैसे कहा जासकता ?

यहाँ एक बात और ध्यान रखनेकी यह है कि, जहाँ संशय सकोटिक भी होताहै वहां यह कोई नियम नहीं कि भाव एवं अभाव दोनोंही "कोटि" हों। ऐसा भी संशय पाया जाताहै कि जहाँ अनेक भावही "कोटि" होतेहैं। जैसे "यह स्थाणु है या मनुष्य ?" यहाँ स्थाणुत्व और मनुष्यत्व ये दोनों कोटि हैं, जिनमें एकभी अभाव नहीं दोनों ही भावहैं। यदि यह कहाजाय

कि "यह स्थाणु है या मनुष्य ?" इसका माने यह है कि "यह स्थाणु है या नहीं ?" "यह मनुष्य है या नहीं ?" । ऐसा होनेपर एक कोटि भाव और अपर कोटि अभाव होजाताहै, क्योंकि स्थाणुत्व है भाव और स्थाणुत्वका अभाव है अभाव । इसी प्रकार उक्त द्वितीय संशयमें मनुष्यत्व कोटि है भाव और उसका अभाव कोटि है अभाव, तो यह कथन इसलिए संगत नहीं कि यहां कथंचित् संशयद्वय मानकर समाधान मिलनेपर भी सब जगह ऐसा समाधान नहीं दिया जासकेगा । जैसे—"यह चन्द्रहै या कमल ?" इसप्रकार संशयस्थलमें यह नहीं कहा जा सकता कि यहां "यह चन्द्रहै या नहीं ?" "यह कमल है या नहीं ?" इसप्रकार "दो" संशय हैं । क्योंकि "यह चन्द्र है या कमल ?" यहां प्रत्येक कोटिमें जो सुन्दरता व्यक्त होतीहै, उक्तप्रकार दो संशय करलेनेपर उसकी रक्षा नहीं होपाती । अभाव कोटिमें सौन्दर्य नहीं व्यक्त होपाता ।

साथही यहभी कोई नियम नहीं कि सकोटिक संशय द्विकोटिकही होते । "यह चन्द्रहै या कमलहै या दर्पणहै या तरुणी-मुख ?" इत्यादि बहुकोटिक संशयभी पाया जाताहै । हां यह बात जरूर है कि कोईभी संशय एक कोटिक नहीं होता, एकाधिक कोटिक या निष्कोटिक ही ।



विपर्यय

जहां जो वस्तु नहीं हो वहां उसका निश्चयात्मक-ज्ञान एवं जो जैसा नहीं है उसे वैसा निश्चय करना ही है विपर्यय । जैसे—सीपको "यह चांदी है" ऐसा निश्चय करना, है विपर्यय । इस विपर्ययके सम्बन्धमें दार्शनिकोंका परस्पर बड़ाही मतभेद

पाया जाताहै। बौद्ध-दार्शनिकोंके अन्दर आन्तर क्षणिकविज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य दृश्य वस्तुकोभी सत्ता माननेवाले "सौत्रान्तिक" और "वैभाषिक" लोगोंका कहना यह है कि बाहर तत्त्वतः विद्यमान "सीप" में क्षणिक विज्ञानके आकारभूत अतएव आन्तर चांदीका आरोप होताहै। वही होताहै "यह चांदी है" एतदाकार विपर्यय, जिसे भ्रम, भ्रान्ति, विपर्यास आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाताहै। क्षणिक-विज्ञान मात्रको तात्त्विक सत्पदार्थ माननेवाले "योगाचार" सम्प्रदायके बौद्धविद्वानोंका कहना है कि जैसे फेन, बुलबुले आदि जलके ही आकार विशेष होतेहैं जलसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं होते, इसीप्रकार समस्त दृश्य वस्तुएं क्षणिकविज्ञानस्वरूप आत्माके ही आकार हैं, अतिरिक्त नहीं। अतएव उक्त "यह चाँदी है" इत्यादि भ्रमज्ञान-स्थलमें यह मानना चाहिए कि आन्तर क्षणिकविज्ञानस्वरूप आत्माके आकारभूत चाँदीमें "यह" इसप्रकारसे इदन्ताका अर्थात् बाहरीपनका आरोप होताहै, न कि इसमें अर्थात् सीपमें चाँदीका आरोप होताहै। शून्याद्वैतवादी "माध्यमिक" सम्प्रदायके बौद्ध-आचार्योंका कहना यह है कि शून्य ही तत्त्व है, सारे दृश्य अलीक हैं, फिरभी प्रतीत होते हैं, अतः उक्त "यह चाँदी है" इस ज्ञानमें भी अलीक चाँदीकी ही प्रतीति होतीहै। ब्रह्माद्वैतवादी शाङ्कर-वेदान्तियोंका कहना है कि सीपमें जहाँ "यह चाँदी है" यह ज्ञान होताहै वहाँ तत्कालोत्पन्न आविद्यक-चाँदीका विषयीकरण होताहै। सीपका अज्ञानही कुछदेरकेलिए चाँदीरूपसे परिणत हो जाताहै। प्राभाकर सम्प्रदायके लोगोंका कहना यह है कि विपर्यय नामक कोई भ्रम-ज्ञान होताही नहीं, सारे ज्ञान यथार्थही होते हैं। सीपमें होनेवाला "यह चाँदी है" यह ज्ञानभी यथार्थही है अयथार्थ नहीं। सीपमें "यह चांदी है" यह एक ज्ञान नहीं

है, यहाँ दो ज्ञान हैं। "यह है" यह एक प्रत्यक्षात्मकज्ञान है, और "चाँदी" यह स्मरणात्मक-ज्ञान है। "यह" याने सीप तत्त्वतः सामने विद्यमान है, अतः "यह है" यह ज्ञान ठीकही है, यथार्थ-ही है, अयथार्थ क्यों होगा? और "चाँदी" यह स्मरणात्मक ज्ञानभी यथार्थ इसलिए है कि अन्यत्र विद्यमान तात्त्विक चाँदी-को ही वह विषय कर रहाहै। चाँदी चाहनेवाला व्यक्ति उस चकमकाते हुए सीपकी ओर लेनेकेलिए दौड़ता इसलिए है कि उक्त "यह है" इस अनुभव और "चाँदी" इस स्मरणको, एवं इन दोनों ज्ञानोंके विषय इस (सीप) को एवं अन्यत्र विद्यमान चाँदीको वह द्रष्टा भिन्न नहीं समझ रहाहै। और इसप्रकार स्वरूपतः तथा विषयतः इन दोनों ज्ञानोंको भिन्न नहीं समझनेके कारण वह इस सीपकी ओर दौड़ता है।

परन्तु एक-एक करके समीक्षा करने पर ये प्रदर्शित मतवाद युक्तियुक्त नहीं जंचते। सौत्रान्तिक और वैभाषिक इन दोनोंका उक्त मतवाद इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि जब बाह्य वास्तविक चाँदी कहीं इस "इसं" पदार्थके समान विद्यमान है, फिर उसीका आरोप क्यों नहीं इस वास्तविक "इस" (सीप) में मान लियाजाय? आन्तर स्वतन्त्र विज्ञानके आकारभूत चाँदी माननेका प्रयोजन क्या रहजाता? सभीमें किसी न किसीका आरोप कभी न कभी हुआ करेगा, एवं किसी न किसीमें सभीका आरोप कभी होगा, अतः तुल्ययुक्त्या जितने बाह्य पदार्थ होंगे उतने आन्तरविज्ञानाकारभूत पदार्थभी व्यर्थ मानने होंगे। इससे लाभ क्या होगा?। क्षणिक विज्ञानमात्रको सत्पदार्थ माननेवाले योगाचार-सम्प्रदायके बौद्धविद्वानोंका उक्त मतवाद इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि विज्ञानमात्र ही जब सत्है, और सभी उसके आकारमात्रहैं, तब तो बाह्य कोई है ही नहीं, फिर बाह्यता

कहाँसे आयगी ? बाह्यता ही है इदन्ता जिसे "यह" "इस" आदि शब्दोंसे कहाजाताहै। जब इदन्ता, कोई वस्तु नहीं फिर आन्तरविज्ञानमें उसका आरोप कैसे हो सकेगा ? यदि यह कहाजाय कि अन्य समग्र पदार्थोंके समान बाह्यताभी विज्ञानका ही आकार है अतएव आरोपित है, तो अभिप्राय यह होगा कि विज्ञानमें आरोपित तदाकार चाँदीमें, विज्ञानमें आरोपित तदाकार बाह्यताका आरोप होताहै। ऐसा कहनेपर बाजारू चाँदीमें होनेवाले "यह चाँदीहै" इस ज्ञानसे सीपमें होनेवाले "यह चाँदीहै" इस ज्ञानमें कोई भेद नहीं रहजाता, क्योंकि वहाँभी बाजारू चाँदी एवं "इदन्ता" ये दोनों विज्ञानके ही आकार होतेहैं। दूसरी बात यहभी है कि आरोपका अधिष्ठान सत् पदार्थही होताहै, दीवारके विना उसपर चित्रकल्पना नहीं होती, फिर असत् वैज्ञानिक चाँदीमें "इदन्ता" का आरोप कैसे हो सकता ? एक और बात यह भी है कि आरोप असत् पदार्थका कभी नहीं होता। गगनकमल कूर्मरोम शशविषाण आदिका कोई कहीं आरोप नहीं करता, अतः इदन्तास्वरूप बाह्यताका भी आरोप विज्ञानाकार चाँदीमें तभी होसकता यदि उसे सत् पदार्थ मान लियाजाय। और यदि ऐसा माना ही जाय तो अन्य पदार्थोंका क्या अपराध होगा कि वे सत् नहीं होंगे ? यदि सभी सत् होंगे तो बाजारू चाँदीभी सत् होगा, और उसीका विषयीकरण सीपमें होनेवाले "यह चाँदी है" इस ज्ञानमें हो सकेगा, फिर व्यर्थ उक्तप्रकार अनुभव-विरुद्ध मतवाद माननेका कोई प्रयोजन नहीं देखा जाताहै। और भी एक बात ध्यान देनेकी यह है कि चाँदी को जो विज्ञानका आकार माना जाताहै। वहाँ आकार, आकारीविज्ञानसे भिन्न वस्तुहै या नहीं ? यदि भिन्न है तब तो विज्ञानबाह्य आकारात्मक "सत्" माननेसे अपसिद्धान्त हो

आताहै। भिन्न नहीं मानने पर "विज्ञानका आकार" ऐसा बोला भी नहीं जासकता, क्योंकि "का" इस षष्ठीविभक्तिका अर्थ होता-है सम्बन्ध, और सम्बन्ध किसी भिन्न वस्तुको उससे भिन्न किसी वस्तुसे ही हुआ करताहै। जैसे "श्यामका वस्त्र" एतादृश वाक्य-प्रयोग-स्थलमें श्याम और उसका वस्त्र ये दोनों ही भिन्न होते हैं, अतः बीचमें "का" शब्द देकर दोनोंका "स्वस्वामिभाव" सम्बन्ध प्रतिपादित होताहै। कभी कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य "श्यामका श्याम" "रामका राम" इत्यादि वाक्य-प्रयोग नहीं करता। कहनेका अभिप्राय यह है कि "विज्ञानका आकार" माननेवालेको उनकी इच्छाके विरुद्ध भी बाह्यवस्तुकी सत्ता माननी होगी, फिर उनका "आत्मख्यातिवाद" टिक नहीं सकेगा, क्योंकि विज्ञानस्वरूप आत्ममात्र "सत्" तत्त्व नहीं रहेगा, जिससे कि सर्वत्र केवल उसीकी ख्याति (ज्ञान) होनेके कारण उक्त मतवाद सङ्गत हो सकेगा।

असत् (शून्य) ख्यातिवादी माध्यमिक सम्प्रदायके बौद्ध विद्वानोंका मतवाद इसलिए उचित नहीं मालूम पड़ता कि, यदि अलीक "असत्" ही दृश्य प्रतीत होतेहैं तो गगनकुसुम-कूर्मरोम-शशविषाण आदिभी क्यों नहीं प्रतीत होतेहैं? एवं दृश्योंकी सारी प्रतीतियाँ यदि "अलीक" को ही विषय करतीहैं, तो बाजारू चाँदीको विषय करनेवाली "यह चाँदी है" यह प्रतीति और सीपमें होनेवाली "यह चाँदीहै" यह प्रतीति, इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। बाजारू चाँदीको "यह चाँदीहै" ऐसा समझकर चाँदीकेलिए प्रवृत्त होने-वालेकी प्रवृत्ति निष्फल नहीं किन्तु सफल होतीहै। वहाँ वह चाँदी पाता, उससे (चाँदीसे) होनेवाले कार्योंका सम्पादन करता है, किन्तु सीपके "यह चाँदीहै" ऐसा समझकर प्रवृत्त होनेवाले

मनुष्यकी प्रवृत्ति सफल नहीं, किन्तु निष्फल होती है। सीपके पास जाकर वह चाँदी नहीं पाता, उसे चाँदीसे सम्पन्न होनेवाले कार्योंके सम्पादन करनेका अवसर नहीं मिलता। असत्-ख्यातिवादमें ये बातें नहीं बनतीं। इस "अलीक ख्याति" मतमें गगनकुसुम-कूर्मरोम आदिकी ख्यातिका निराकरण यह कहकर भी नहीं हो सकता कि अनादिकालसे गगनकुसुम आदिकी प्रतीतियाँ नहीं होती आयीहैं अतः तदनुरूप वासनाएँ नहीं बनतीहैं इसीलिए परवर्त्ती कालमें भी उनकी प्रतीतियाँ नहीं होतीहैं, किन्तु अन्य दृश्योंके अलीक होनेपर भी अनादिकालसे उनकी प्रतीति होनेके कारण तदनुरूप वासनाएँ बनी हुई होतीहैं अतः परवर्त्ती कालमें अन्य दृश्योंकी प्रतीतियाँ हुआकरतीहैं इत्यादि। क्योंकि तबतो घर कपड़े शरीर आदि अलीक दृश्योंकी प्रतीतिकेलिए तदनुरूप स्थायी वासना माननी पड़ती जो स्वयं "अनलीक" होजाती, सिद्धान्त चौपट चलाजाता। यदि कहाजाय कि वह वासना भी अलीक ही होती है, तो यह कथन इसलिए सङ्गत नहीं होता कि, फिर उसे परवर्त्ती कालमें प्रतीतिजननका सामर्थ्य नहीं रहसकता। अलीक कभी कुछ कर नहीं सकता, अतः अलीक वासना कैसे परकालमें अलीक-दृश्योंकी प्रतीति करा सकेगी? यदि नहीं करा सकेगी तो कोई विशेषता न होनेके कारण गगनकुसुम आदि अलीकोंकी भी प्रतीति क्यों नहीं होती? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जासकता।

यद्यपि ये लोग "चतुष्कोटिविनिर्मुक्ति" को कहतेहैं शून्यता, अतः अपनेको असत्ख्यातिवादी नहीं मानते। परन्तु युक्तिके बिना केवल कहनेसे ही तो कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। "सत्त्व" और "असत्त्व" इन दोनोंको परस्पर अतिविरुद्ध होनेके कारण कोई वस्तु दो कोटियोंसे आगे बढ़ ही नहीं सकती। अतः प्रतीत्य-

समुत्पाद या प्रतीत्यसमुत्पन्न जब "सत्" नहीं तो "असत्" ही होगा, सुतरां अनिच्छासे भी इन्हें अपनेको "असत्ख्यातिवादी" ही मानना होगा।

अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी अद्वैतवेदान्तियोंका उक्त मत इसलिए उचित प्रतीत नहीं होताहै कि वे लोग सीपमें प्रतीत चाँदीको अनिर्वचनीय मानतेहैं। वे कहतेहैं कि उस चाँदीको "सत्" इसलिए नहीं माना जासकता कि उससे बाजारू चाँदीके समान कार्य नहीं लिया जासकता, उसे उपयोगमें लाया नहीं जासकता। "असत्" इसलिए नहीं कह सकते कि उसकी "यह चाँदी है" इसप्रकार प्रतीति होतीहै। अलीक, असत् होनेपर अलीक गगनकुसुम आदिके समान उसकी भी प्रतीति नहीं होपाती। उसे सत् और असत् दोनों नहीं कहा जासकता, क्योंकि सत् होना और असत् होना ये दोनों अतिविरुद्ध हैं, कोईभी वस्तु सत् और असत् दोनों प्रकार नहीं हो सकती, अतः वह चाँदी अनिर्वचनीय है। यहाँ यह उनसे पूछना चाहिए कि, जब यह निश्चय करलिया गया कि वह केवल "सत्" एवं केवल "असत्" तथा मिलित "सदसत्" इन तीनोंसे भिन्न अनिर्वचनीय चाँदी है, तब क्या यही उसका निर्वचन नहीं हो गया? अनिर्वचनीय तो तब कहलाता, जब कि उसके स्वरूपके बारेमें सन्देह रह जाता, सो तो है नहीं, निश्चय कर डाला गया कि वह उक्त त्रिकोटि-विनिर्मुक्त अनिर्वचनीय है। जब कि अनिर्वचनीयरूपसे उसका निर्वचन हुआ फिर उसे "अनिर्वचनीय" कहना "वदतो व्याहत" होताहै। एतदतिरिक्त एक बात यह भी है कि सीपमें चाँदीका अवयव (भाग) न होनेके कारण उस चाँदीकी उत्पत्ति सीपमें वे लोग अज्ञानसे मानते हैं। किन्तु यह बात बिलकुल नहीं जँचती, क्योंकि अन्धकारतुल्य अज्ञानसे तेजस्वरूप चाँदी कैसे उत्पन्न हो सकेगी? क्या अन्धेरेसे

प्रकाशकी उत्पत्ति कहीं देखी जातीहै? और अज्ञानसे यदि भावात्मक वस्त्वन्तर उत्पन्न हो, तो करोड़ों विषयक अज्ञान सभी-को सर्वदा विद्यमान रहनेके कारण, उक्त "प्रातिभासिक" चाँदीके समान करोड़ों पदार्थकी उत्पत्ति सदा होनी चाहिए, जो होती नहीं। अज्ञान तो तब भी करोड़ों विषयका रहताहै, जब प्राणी सोया रहताहै, फिर उस समयभी करोड़ों अद्भुत अनिर्वचनीय वस्तुकी उत्पत्ति एवं उनकी प्रतीति क्यों नहीं होतीहै? अतः यह कल्पना युक्तिबाह्य होनेके कारण ग्राह्य नहीं होसकती। यद्यपि उक्त अनिर्वचनीयतावादी लोग अधिष्ठान, विषयक अज्ञानके अतिरिक्त विषय एवं इन्द्रियगत दोष तथा आरोप्य विषयक प्राचीन संस्कारको सहायक मानकर इस दोषके उद्धारका प्रयत्न कियाहै, किन्तु उस प्रयत्नको वस्तुतः सफल इसलिए नहीं कहा जासकता कि, कोई भी सहायक, समर्थका ही साहाय्य करसकताहै, अति असमर्थका नहीं। हजारों सहायक जुटने पर भी अन्धकार जिसप्रकार प्रकाशरूप में परिणत नहीं हो सकता, उसीप्रकार अन्यप्रकार सहायककी कल्पना करके सीप आदिके अज्ञानसे चाँदीके उत्पादनका समर्थन नहीं किया जासकता।

अख्यातिवादी मीमांसकोंका कथन इसलिए उचित नहीं कहा जासकता कि जहाँ सीपमें "यह चाँदीहै" यह ज्ञान उत्पन्न होताहै वहाँ "यह" इसे प्रत्यक्ष और "चाँदी है" इसे स्मरण नहीं माना जासकता। क्योंकि "चाँदी है" इसप्रकार बाजारू चाँदीका स्मरण करके यदि चाँदी चाहनेवालेकी प्रवृत्ति होगी, तो उस स्मर्ताको बाजारकी ओर जाना चाहिए, किन्तु होता ऐसा नहीं, इसी सीपकी ओर चाँदी चाहनेवालेकी प्रवृत्ति देखी जातीहै। दूसरी बात यह भी ध्यान देनेकी है कि यदि चाँदीका स्मरण होता तो प्रतीतिका आकार "चाँदी था" ऐसा होना चाहियेथा, क्योंकि

स्मरणमें भूतकालभी विषय होताहै। परन्तु प्रतीति होतीहै "यह चाँदी है"। "है" यह आकार कहीं भी स्मरणका नहीं होता। अन्य एक बात यह भी है कि सीपको दूरसे "यह चाँदीहै" ऐसा समझनेके अनन्तर जब कि वह समझनेवाला सीपके पास जाताहै तब उसे यह निषेध-ज्ञान होता है कि "यह चाँदी नहीं"। यदि पहले इस सीपको चाँदी न समझा होता, तो यहाँ चाँदीका निषेध न करके बाजारू चाँदीका निषेध करता, फिर तो उसे "यह" इस प्रकार अङ्गुलीके इशारेके साथ "चाँदी नहीं है" इस प्रकार निषेध-ज्ञान द्रष्टा नहीं करता। यह बात सहीहै कि वहाँ इस सीपको और चाँदीको द्रष्टा भिन्न नहीं समझता, दोनोंमें होनेवाले परस्पर भेदका भान उसे उस समय नहीं होता, परन्तु केवल भेदके न समझनेसे ही, वह चाँदी चाहने-वाला सीपकी ओर दौड़ पड़ताहै, ऐसा नहीं कहा जासकता। ऐसा मानने पर गाढनिद्रापन्न सोते हुए मनुष्यको भी प्रवृत्ति होनी चाहिये। उस समय उसे कोई ज्ञान न रहनेके कारण भेद-का भी ज्ञान नहीं रहता, अतः भेदका अज्ञान रहता ही है। इसलिए यह मानना होगा कि भेदके अज्ञानके साथ समीपवर्त्ती सीपमें अपेक्षित चाँदीका ऐक्य-ज्ञान होकर ही उस चाँदी चाहने-वालेको सीपकी ओर प्रवृत्ति होतीहै।

इसप्रकार प्रदर्शित वादोंकी समीक्षा करके ही प्राचीन-पदार्थ-शास्त्रियोंने भ्रमको "अन्यथाख्याति" मानाहै। "अन्यथा"का अर्थ-है अन्यरूपसे, और "ख्याति" शब्दका अर्थहै "ज्ञान"। सारकथा यह हुई कि सीपको "यह चाँदीहै" इसप्रकार क्या समझा जाता है? निकटवर्ती सीपको तात्त्विक चाँदी समझा जाताहै, अर्थात् सीपरूपसे विद्यमान वस्तुको चाँदीरूपसे देखा जाताहै, अतः यह "चाँदी है" इस प्रत्यक्षका विषय वास्तविक चाँदी ही है

आविद्यक नहीं। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता कि चाँदीका प्रत्यक्ष तो तब हो यदि आँखका संयोग चाँदीके साथ हो, सो तो है नहीं, आँखका संयोग तो सीपके साथ है, फिर "यह चांदी है" इस प्रत्यक्षमें वास्तविक चाँदी कैसे विषय हो सकता? वह प्रत्यक्ष चाँदीका कैसे कहला सकता? व्यवहित-दूरवर्त्ती वास्तविक चाँदीके साथ आँखका संयोग होना असम्भव है। इसके उत्तरमें अन्यथाख्यातिवादी पदार्थशास्त्रियोंका कथन यह है कि अन्यथाख्यातिके अव्यवहित पूर्वकालमें वास्तविक चांदीके साथ आंखका संयोग न होनेपर भी पहले कभी जो चाँदीके साथ आँखका संयोग हुआ था, उससे होनेवाले चाँदीके अभ्रान्त अनुभवसे उत्पन्न-तत्संस्कारसे उस चाँदीका जो स्मरण पीछे होताहै वही "ज्ञानलक्षणा" नामक एक प्रकार अलौकिक सन्निकर्ष हो जाताहै, और "इस" के अर्थात् सीपके साथ तो आँखका संयोग होता ही है, इन लौकिक एवं अलौकिक दो-प्रकार सन्निकर्षोंसे भ्रान्त द्रष्टा सीपको "यह चाँदी है" इस-प्रकार देखताहै, याने सीपको ही चाँदीरूपसे देखताहै। अन्य भ्रमस्थलमें भी इसीप्रकार प्रक्रिया समझनी चाहिये। यद्यपि इस-पर अनिर्वचनीय-ख्यातिवादियोंने यह आपत्ति की है कि ज्ञानलक्षणाको सन्निकर्ष मानने पर पर्वतसे उठतेहुए धूमको देखकर जो "पर्वत आगवाला है" इस प्रकार अनुमिति-ज्ञान होताहै, वह अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष हो बैठेगा, क्योंकि पर्वतके साथ तो आँखका संयोग ही सन्निकर्ष है, और धूमको देखकर आगका स्मरण अवश्य होनेके कारण आग-के साथ ज्ञानलक्षणा नामक सन्निकर्ष होजायगा अतः वह्निभी प्रत्यक्ष हो जायगा, अनुमिति-ज्ञानका विलोप हो बैठेगा। परन्तु अन्यथाख्यातिवादी यह कह सकते हैं कि "व्याप्ति"सम्बन्ध-ज्ञान-

के अधीन होनेवाला स्मरण ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष नहीं है, उसके अनधीन स्मरणको ही ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष मानेंगे। धूमको देखकर जो आगका स्मरण होताहै वह धूममें विद्यमान आगके साथ अव्यभिचरित-सामानाधिकरण्यरूप "व्याप्ति" सम्बन्धका ज्ञान होनेके कारण होताहै, अतः अनुमितिस्थलीय आग आदि "साध्य"का स्मरण "ज्ञानलक्षणा" सन्निकर्ष नहीं होगा, अतः आगका प्रत्यक्ष न हो सकनेके कारण उसकी अनुमिति होगी। उक्तप्रकार भ्रम-स्थलमें चाँदीका स्मरण व्याप्तिसम्बन्ध-ज्ञानके अधीन नहीं होता, अतः ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष हो सकेगा, और उससे अन्यत्र विद्यमान चाँदीका प्रत्यक्ष होनेमें कोई बाधा न होगी एक बात और ध्यान देने योग्य यहहै कि, जहाँ आरोप्य और आरोपाधिष्ठान ये दोनों ही इन्द्रियसे सन्निकृष्ट होते वहाँ अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी लोग भी "अन्यथाख्याति" मानते हैं, जैसे—जपापुष्प और स्फटिक-खण्ड ये दोनों यदि अगल-बगल रखे हुए हों, तो स्फटिकमें लाल रङ्गका भान अन्यथाख्याति है। हाँ, यह आवश्यक है कि जपा और स्फटिक इन दोनोंसे आँखका सन्निकर्ष हो। जब कि अनिर्वचनीय-ख्यातिवादीको भी एतादृश-परिस्थितिमें अन्यथाख्याति माननी ही पड़ती है, फिर उक्त सीपमें चाँदीके ज्ञानको भी अन्यथाख्याति न मानकर अनिर्वचनीयख्याति क्यों न माना जाय? इसीप्रकार जहाँ राङ्ग और चाँदी इन दोनों-के दो टुकड़े पड़े हों, और विपरीतभावसे चाँदीको राङ्ग और राङ्गको चाँदी समझाजाय तो यह "समझना" अन्यथाख्याति ही होगा, क्योंकि वहाँ यह बात नहीं कही जासकती कि, इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं है, दोनोंके साथ आँख जुटी ही है। अतः सर्वत्र विभ्रमस्थलमें अन्यथाख्याति ही स्वीकार करना चाहिए।

———

प्रमात्व-निश्चय

प्रसङ्गवश यहाँ यह विचार कर लेना भी अच्छा है कि "मेरा ज्ञान यथार्थ है" इसप्रकार अपने ज्ञानमें याथार्थ्य स्वरूप प्रमात्वका निश्चय ज्ञानोत्पत्तिके परक्षणमें ज्ञान-ज्ञानके साथही ज्ञान-ज्ञापक कारणोंसे ही होजाताहै या व्यवहितपरकालमें किसी अनुमापक हेतुसे यह निश्चय कियाजाताहै कि "मुझे" वह ज्ञान यथार्थ हुआ था"? कुछ लोगोंका कहनाहैं कि ज्ञान प्रमा हो या अप्रमा किन्तु उसकी उत्पत्तिके परक्षणमें ही ज्ञान-ज्ञापक-कारणोंसे उस ज्ञानका और उस ज्ञानमें यथार्थता स्वरूप प्रमात्वका भी निश्चय होताहै कि "यह जो मैंने समझाहै सो ठीक ही समझाहै"। "मेरा ज्ञान यथार्थ ही हुआहै" इत्यादि। यह इसलिए कि, ज्ञान यथार्थ हुआ हो या अयथार्थ, जो कुछ भी, परन्तु उसके अनन्तर प्राणी बहुतही शीघ्र ज्ञात विषयकी ओर प्रवृत्त होताहुआ या उससे निवृत्त होताहुआ दिखाई देताहै। यदि तुरत अपने ज्ञानमें उसे यथार्थताका विश्वास न हो कि "मेरा ज्ञान सही, सच्चाहै" तो फूल फल आदि स्पृहणीय-वस्तु-देखकर भी उसको निष्कम्प-प्रवृत्ति न होगी। एवं सर्प आदि परिहरणीय वस्तु देखकर भी उधरसे निवृत्ति न हो सकेगी। इसीप्रकार किसी उपेक्षणीय वस्तुको देखकर उपेक्षा न हो सकेगी, अतः मानना चाहिए कि किसी भी ज्ञानमें यथार्थताका निश्चय उस ज्ञानके ज्ञापक कारणोंसे ज्ञान ज्ञानके साथही हो जाताहै। इस "स्वतः प्रामाण्यवाद" के पक्षपातियोंमें भी अवान्तरमतभेद यह पाया जाताहै कि कोई तो "ज्ञान-ज्ञापक कारण" पदसे उसी ज्ञानको लेताहै, जिसमें प्रमात्वका निश्चय करणीय होताहै। जैसे— "यह फूल है" यह ज्ञान यदि हुआ, और "यह प्रमाहै" इसप्रकार

यदि उस ज्ञानमें प्रमात्वका, याने यथार्थताका निश्चय करणीय हुआ, तो "यह फूल है" इस उक्तप्रकार ज्ञानको ही उसे एवं उसमें प्रमात्वको समझानेवाला मानना होगा। क्योंकि ज्ञान "स्वप्रकाश" अर्थात् अपनेसे ही प्रकाशित होनेवाला होताहै, जैसे दीप। एक दीपको देखनेके लिए, जैसे अन्य दीपकी अपेक्षा नहीं होती, उसी-प्रकार ज्ञानको समझनेके लिए याने उसे विषय बनानेके लिए अन्यज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती, अतः उक्तप्रकार "यह फूल है" यह ज्ञान स्वयं ही अपनेको एवं अपनेमें होनेवाले "प्रमात्वको" अर्थात् यथार्थताको समझाताहै, प्रमात्वको समझानेके लिए अन्यसामग्रीकी अपेक्षा नहीं होती, अतः यह वाद भी एक-प्रकार "स्वतः प्रामाण्यवाद" कहलाताहै। द्वितीय अवान्तर मत-वाद यह है कि ज्ञान "अतीन्द्रिय" अर्थात् अप्रत्यक्ष वस्तु है, उसे प्रत्यक्ष नहीं किया जासकता, किन्तु ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर विषयमें "ज्ञातता" नामकी एक वस्तु पैदा होतीहै, जिसे अपर शब्दमें "प्राकट्य" भी कहतेहैं। यही कारण है कि ज्ञानके अनन्तर प्राणी यह भान करता कि "यह विषय मुझसे ज्ञात हुआ" "यह विषय मेरे समक्ष प्रकटहुआ" इत्यादि। इसी "ज्ञातता" से यह अनुमान किया जाताहै कि "मुझे अमुक विषयक-ज्ञान उत्पन्न हुआ" "मैंने अमुक वस्तुको समझा" और "मैंने सही समझा" "मेरा समझना बिलकुल सही हुआ है" इत्यादि। सार-कथा यह हुई कि विषयमें उत्पन्न होनेवाली "ज्ञातता"से ज्ञानकीभी अनुमिति होतीहै, और साथही उस ज्ञानमें प्रमात्वकी भी अनुमिति होजातीहै, प्रमात्वको समझनेके लिए ज्ञान-ज्ञापक कारणसे अतिरिक्त कारणकी अपेक्षा नहीं होती, अतः यह वाद-भी "स्वतः-प्रामाण्यवाद" होताहै।

तृतीय अवान्तर मतवाद यह है कि जैसे घट-पट आदि विषयोंसे भिन्न होनेवाले उनके ज्ञानसे घट-पट आदि विषयोंका प्रकाशन अर्थात् साक्षात्करण होताहै, उसीप्रकार "यह घटहै" "यह पटहै", "यह फूलहै" और "यह फलहै" इन ज्ञानोंका प्रकाशन इन ज्ञानोंके अनन्तर होनेवाले "मैं इस घड़ेको जानता हूँ", "मैं इस कपड़ेको जानता हूँ", "मैं इस फूलको जानताहूँ" और "मैं इस फलको जानताहूँ" इत्यादि स्वतन्त्र "अनुव्यवसाय" नामक ज्ञानोंसे होताहै। और ज्ञान प्रकाशनके साथही उक्त "घटहै" इत्यादि व्यवसाय-ज्ञानमें "यह ज्ञान यथार्थहै, प्रमाहै" इत्यादि प्रमात्व-निश्चयभी, उसी परवर्ती "मैं जानताहूँ" इस अनुव्यवसाय-ज्ञानसे हो जाताहै, अतिरिक्त कारणकी अपेक्षा नहीं होती। अतः इस वादको भी "स्वतःप्रामाण्यवाद" कहतेहैं। स्वतः प्रमात्व निश्चयस्वरूप स्वतः प्रामाण्यवाद माननेकी मूलयुक्ति यही है कि ज्ञान होनेके पश्चात् शीघ्रही प्रवृत्ति होनेसे यह मालूम होताहै कि ज्ञान-ज्ञानके साथही ज्ञानमें प्रमात्व अर्थात् यथार्थत्वभी ज्ञात हो जाताहै, उसमें साधनान्तरको अपेक्षा नहीं होती।

अन्य कुछ लोगोंका कहना यहहै कि ज्ञानके अनन्तर तुरत प्रवृत्ति होनेसे ही यह नहीं कहा जासकता कि ज्ञान-ज्ञानके साथही उसमें प्रमात्वका भी निर्णय हो जाताहै। क्योंकि कहीं-कहीं प्रवृत्त होनेपर भी मन डोलताहै, प्रवृत्त पुरुषको यह सन्देह होताहै कि "मैंने ठीक समझाहै या नहीं"। जैसे—अज्ञातस्थानमें किसीने दूरसे यह देखा कि "वहाँ जलहै"। जलार्थी होनेपर वह उस ओर चल तो पड़ताहै किन्तु यह सोचता जाताहै कि, मैंने ठीक समझाहैं या नहीं, कहीं ऐसा तो नहीं कि मुझे भ्रम हुआ हो? वहाँ जाने-पर जल न मिले? जाकर वह जब जल पाताहै तब "वहाँ

जलहै", इसप्रकार ज्ञानको यथार्थ, और यदि जल नहीं पाताहै तब अपने ज्ञानको अयथार्थ समझताहै। इससे यह स्पष्ट मालूम होताहै कि ज्ञान उत्पन्न होनेपर तुरत उसमें प्रमात्वका निश्चय नहीं होताहै, प्रवृत्तिकी सफलता देखकर पीछे ज्ञानमें प्रमात्वका निश्चय होता है, अतः उक्त प्रकारसे प्रमात्वका ज्ञान स्वतः होताहै यह वाद ठीक नहीं, किन्तु परतः प्रमात्व ज्ञान मानना चाहिए।

वस्तुतः इसविषयमें अनेकान्तवादका आश्रयणही अनुभव-सिद्ध और युक्तियुक्त मालूम होताहै, क्योंकि चिरपरिचित वस्तुके ज्ञात होनेपर तद्विषयक ज्ञानमें प्रमात्वका सन्देह किसीको नहीं होताहै कि "मेरा ज्ञान यथार्थ हुआ या अयथार्थ"। अतः एतादृश स्थलोंमें ज्ञानगत प्रमात्वका ज्ञान स्वतः अर्थात् ज्ञान ज्ञापक कारणोंसे ही होजाताहै, अतिरिक्त कारणकी अपेक्षा नहीं होती। और जहाँ अपरिचित पदार्थका ज्ञान होताहै जैसाकि ऊपर जल ज्ञानका उदाहरण दिया गयाहै, तादृशस्थलमें यह सन्देह होताहै "मेरा ज्ञान ठीक हुआहै या बेठीक" अतः वहाँ ज्ञान-गत-प्रमात्वका ज्ञान परतः अर्थात् प्रवृत्तिकी सफलतासे होताहै।

ज्ञानमें अप्रमात्वका निश्चय अर्थात् "यह मेरा ज्ञान ठीक नहीं" इसप्रकार निर्णय सर्वसम्मतिसे स्वतः न होकर परतः ही होताहै, अर्थात् ज्ञानसे इच्छाके बाद प्रवृत्त होकर जब ज्ञाता अपनी प्रवृत्तिको निष्फल देखताहै तब "मेरा ज्ञान अयथार्थ अप्रमा-स्वरूप हुआ, ठीक नहीं" इसप्रकार अपने ज्ञानमें अप्रमात्वका निर्णय करताहै। अन्यथा ज्ञान उत्पन्न होतेही उस अपने ज्ञानको ज्ञाता अयथार्थ अप्रमा अर्थात् भूल समझ बैठेगा। और ऐसा होनेपर किसीको कभी किसीभी काममें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु प्रवृत्ति होतीहै, अतः ज्ञानमें अप्रमात्वका निश्चय सभी दार्शनिक एकमतसे परतः ही मानतेहैं।

तृतीय प्रकार तर्क-ज्ञान वह है जो कि आरोपात्मक होकर प्रकृत अनुमापकमें अनुमेयकी उक्त प्रकार व्याप्तिका निश्चय कराता है। जैसे "यह पर्वत यदि आगवाला नहीं हो, तो धूमवाला भी इसे नहीं होनाचाहिये"। यह तर्क उपस्थापित होकर अनुमापक धूममें आगके अव्यभिचरित सम्बन्धका निर्णय कराताहै, जिससे हेतु, व्याप्ति-सम्पन्न सबल होकर अनुमेयकी अनुमिति करानेमें सर्वथा क्षम होताहै। आरोपात्मक होनेके कारण इसे संशय और विपर्यय किंवा प्रमा ज्ञानमें गतार्थ नहीं किया जासकता।

सुख-गुण

सुखको कौन नहीं जानता ? आकीटपतङ्ग सभी प्राणी सुखके-लिए लालायित रहतेहैं, अनवरत उसकेलिए सचेष्ट रहतेहैं। सुख यदि संसारमें न होता तो संसारकी रूपरेखा यह कभी नहीं होती, जो देखी जारहीहै। सारी जनता अलस, अकर्मण्य, मृत-कल्प होती, किसीको किसीकी अपेक्षा न होती। सुख उस गुणको कहतेहैं जिसके उत्पन्न होतेही हृत्कमल और मुखकमल दोनों खिल उठतेहैं, दृष्टि स्निग्ध होउठतीहै, "प्राणी मैं सुखीहूं" इसप्रकार भान करताहै। कुछलोग कहतेहैं कि सुख कोई आत्म-गत गुण नहीं, वह तो दुःखका अभावहै, अर्थात् दुःखके अभावको ही लोग सुख कहतेहैं, वह कोई स्वतन्त्र गुण नहींहै। परन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि तब तुल्ययुक्त्या सुखके अभा-वको ही दुःख क्यों नहीं कहा जासकेगा ? और यदि कहा जाय हाँ, तो यहभी ठीक नहीं होगा, क्योंकि "अन्योन्याश्रय" दोष होजायगा। जबतक सुख नहीं स्थिर होगा तबतक उसके अभाव-रूप दुःखको नहीं समझा जासकेगा, वह स्थिर नहीं होगा। और जबतक दुःख नहीं स्थिर होगा तबतक उसके अभाव-

स्वरूप सुखको नहीं समझा जासकेगा, वह स्थिर नहीं होसकेगा। अतः या तो सुख और दुःख ये दोनोंही स्वतन्त्र गुण सिद्ध होंगे या दोनोंही असिद्ध होजायेंगे। इसलिए सुखकोभी दुःखके समान स्वतन्त्र गुण मानना चाहिए, दुःखाभावस्वरूप नहीं। सुख यदि भावस्वरूप न होकर दुःखका अभावस्वरूप होगा, तो सुषुप्ति-कालमें भी प्राणीको सुख होगा, उस समयभी प्राणी अपनेको "मैं सुखीहूँ" इसप्रकार सुखी समझने लगेगा, किन्तु ऐसा कोई समझता नहीं। यह नहीं कहा जासकता कि सोते समय अर्थात् गाढ़ निद्राकालमें भी प्राणियोंको सुख होता तो है, किन्तु उसका भान नहीं होता कि मैं "सुखी हूँ", तो यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। सुख जब उत्पन्न होताहै तो ठीक उसके अव्यवहित परक्षणमें ही उसका प्रत्यक्ष "मैं सुखीहूँ" इसप्रकार होजाताहै। यदि सुषुप्तिकालमें सुख होता तो उसके परक्षणमें उक्तप्रकार उसका प्रत्यक्ष भी होता। अतः दुःखके अभावको सुख नहीं माना जासकता, वह एक स्वतन्त्र गुणहै। यह बात सहीहै कि कहीं-कहीं दुःखके अभाव अर्थमें भी सुख शब्दका प्रयोग लोग कर दिया करतेहैं, जैसे कोई गुरुतर-भारवाही बोझसे व्यथित होकर उसे शिरसे गिराकर यह कहताहै कि "अब मैं सुखी होगया"। वस्तुतः उसे किसीभी सुख-साधनके न जुटनेके कारण सुख नहीं उत्पन्न होता, केवल भारप्रयुक्त जो उसे दुःख था, उसका अभाव-मात्र भार हट जानेसे होताहै, और उसी दुःखाभावको वह सुख शब्दसे कहताहै कि "अब मैं सुखी होगया"। किन्तु इस प्रयोगके गौण होनेके कारण इससे विषयकी सिद्धि नहीं होसकती, इसके सहारे दुःखाभावको सुख नहीं कहा जासकता। यदि दुःखाभावको सुख माना जायगा तो उक्त सुषुप्ति-कालके समान

मूर्छाकालमें मूर्च्छित प्राणीभी अपने को "मैं सुखी हूँ" इसप्रकार सुखी समझने लगेगा। क्योंकि दुःखका अभाव तो उसे भी रहेगाही।

यह सुख, ज्ञानके समान आत्माका ही गुणविशेषहै। कुछलोग सुखको आत्माका गुण न मानकर उसे आत्म-स्वरूप मानतेहैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि प्राणी "मैं सुखी-हूँ" "मुझे सुखहै" "मुझे सुख हुआथा" "मुझे सुख होगा" इस-प्रकार ही ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग करतेहैं, न कि "मैं सुखहूँ" "मैं सुखथा" "मैं सुख होऊँगा" इत्यादि। भारतीय विवेचकोंने सुख-का परिचय इसप्रकार दियाहै कि जिसकी इच्छा किसी अन्य-वस्तुकी इच्छाके अधीन न हो एतादृश गुणहै सुख। अभिप्राय यह है कि, सुखको छोड़कर संसारकी किसीभी वस्तुको प्राणी इसीलिए चाहतेहैं कि वे उससे सुख प्राप्तकर सकें। अतएव जिससे सुखकी सम्भावना नहीं देखते उसे वे कभी नहीं चाहतेहैं। किन्तु सुखको सभी प्राणी स्वतः चाहतेहैं, उसके चाहनेमें सुखको समझने मात्र-की अपेक्षा होतीहै, किसीभी अन्यवस्तुकी इच्छासे प्रेरित होकर लोग सुखको नहीं चाहते, क्योंकि सुख चरम फलहै वह किसी अन्य फलका साधन नहींहै कि, किसी वस्तुको चाहनेके कारण उसकी चाह होगी। यद्यपि ऐसा स्वभाव दुःखाभावका भी है, वह भी सुखके समान चरम-फलहै किन्तु वह गुण नहीं अभावहै। जो गुण होते हुए एतादृश स्वभावापन्न हो कि उसकी इच्छा किसी अन्यवस्तुकी इच्छाके अधीन न हो, वही होताहै सुख।

कुछलोगोंका कहना यह है कि, सुख उसे कहते हैं, जिसे आकीट-पतङ्ग-प्राणी चाहतेहैं। परन्तु यह कथन इसलिए उचित नहीं मालूम होता कि मोक्ष चाहनेवाले अर्थात् दुःखकी अत्यन्त-निवृत्ति चाहनेवाले सुखकोभी नहीं चाहते, क्योंकि जबतक सुख होगा

तबतक मध्य मध्यमें दुःख होना भी अनिवार्य होगा। मोद, प्रमोद, हर्ष आदि शब्दसे भी सुख ही कहा जाताहै। कुछलोग सुखको आत्माका धर्म (गुण) न मानकर उसे बाह्य वस्तुस्वरूप मान लेते-हैं। उनका कहना यह है कि किसी सुन्दर अच्छी वस्तुको देखकर लोगोंको लोभ क्यों होताहै ? इसीलिए कि, वह वस्तु सुखरूप होती है। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि, जो एक वस्तु किसीके-लिए अभिप्रेत, स्पृहणीय होतीहै, वही दूसरोंकेलिए अनभिप्रेत द्वेषका पात्र होतीहै। यदि वस्तु सुखरूप होती तो एकके समान सबकेलिए वह स्पृहणीयही होती। वह बात कही नहीं जासकती कि वही वस्तु सुखभी है और दुःखभी, क्योंकि सुख और दुःख ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं, एक वस्तु विरुद्ध उभय-स्वरूप कभी नहीं होसकती।

दुःख-गुण

दुःख उस गुणको समझना चाहिए जिसके आत्मामें उत्पन्न होनेपर हृदयकमल कलुषित हो उठे, मुख सूखजाय, कण्ठ अवरुद्ध होजाय, श्वास-प्रश्वास अस्त-व्यस्त होउठें। यदि दुःख नहीं होता तो संसारमें अलसता और अकर्मण्यताका साम्राज्यका उसीप्रकार जमा होता जैसाकि सुखके न होनेपर। क्योंकि कोईभी प्राणी प्रयत्नशील इसीलिए होताहै कि उससे उसकी दुःखकी निवृत्ति होगी, या वह अपने पुरुषार्थसे सुखी होसकेगा। भारतीय पदार्थ-शास्त्रियोंने दुःखका परिचय इसप्रकार दियाहै कि, जिसे कोईभी प्राणी न चाहे, आत्मामें उत्पन्न होनेवाले एतादृश गुणका नामहै दुःख। आकीटपतङ्ग सभी प्राणी दुःखको हटानेकेलिए एवं उसके अनुत्पादकेलिए सचेष्ट पाये जातेहैं। अतः दुःखकी यह व्यवस्था बिलकुल उचितहै कि जिसे कोई प्राणी न चाहे वह दुःखहै।

आचार्योंने दुःखका परिचय इसप्रकार भी दियाहै कि जिसमें होनेवाला द्वेष, किसी अन्यवस्तुमें होनेवाले द्वेषके अधीन न हो, उस गुणका नामहै दुःख। अभिप्राय यहहै कि कन्टक, सर्प, विष, शत्रु आदिमें किसीभी प्राणीको द्वेष इसलिए होताहै कि उनसे प्राप्त होनेवाले दुःखमें सभीको द्वेष होताहै, किन्तु दुःखमें सभीको द्वेष सहज ही होताहै, किसी अन्यवस्तुमें द्वेष होनेके कारण नहीं, क्योंकि दुःखभी सुखके समान चरम फलहै किसीका साधन नहीं, यदि उसकाभी कोई फल होता, तब उस फलमें द्वेष होनेके कारण, दुःखमें अन्यद्वेषाधीन द्वेष होपाता, किन्तु वह जब किसी फलका साधन ही नहींहै, तब वह बात कैसे होसकती? अतः यह कथन भी उचितहीहै कि जिसमें होनेवाला द्वेष किसी अन्यवस्तुमें होनेवाले द्वेषके अधीन हो, उस गुणका नामहै दुःख। कुछलोगोंका कहनाहै कि दुःख आत्माका गुण नहीं, किन्तु अन्तःकरणका धर्म, याने परिणामहै, परन्तु यह इसलिए उचित नहीं मालुम होता कि सभी लोग "मैं सुखीहूँ" के समान "मैं दुःखीहूँ" इसप्रकार ज्ञान एवं वाक्यप्रयोग किया करतेहैं। "मैं" शब्दसे आत्मा ही समझी जातीहै। "मेरा मन दुखीहै" यह प्रयोग कादाचित्क होताहै, अतः यह मुख्य नहीं गौण प्रयोगहै। कुछलोग उस वस्तुको ही दुःखस्वरूप मानलेतेहैं जो अनभिप्रेत याने द्वेषका पात्र होतीहै। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि, वही वस्तु किसीकेलिए अत्यन्त अपेक्षित, अत्यन्त स्पृहणीय होतीहै, अतः उसी दुःखभूत-वस्तुको सुखस्वरूप-भी मानना होगा जो हो नहीं सकता। क्योंकि सुख और दुख ये दोनों अत्यन्त विरुद्धहैं। दो अत्यन्त विरुद्ध वस्तुएं कभी एक वस्तु-स्वरूप नहीं होसकतीहैं, अतः सुखके समान दुःखकोभी आत्माका गुण मानना चाहिए। इसी दुःखको शोक सन्ताप आदि शब्दोंसे भी कहा जाताहै।

कुछ दार्शनिकोंने दुःखको आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त कियाहै। जो दुःख शरीरके भीतर किये जानेवाले उपायानुष्ठानोंसे हटे, उसे कहते हैं आध्यात्मिक। किसी भी प्राणियोंसे प्राप्त दुःखको मानते हैं आधिभौतिक, और ग्रह उपग्रह आदिके प्रभावसे होनेवाले दुखों-को मानते हैं आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःखके भी दो भेद होते हैं, जैसे—शारीरिक और मानसिक, रोगमूलक दुःख हैं शारीरिक और काम क्रोध आदिसे होनेवाले दुःख होते हैं मानसिक। रोगमूलक दुःख, शरीरमें दवाईके उपयोगसे, और काम क्रोधमूलक दुःख, अन्तःकरणमें कामादि-विरोधिभावोंके उदयसे हटते हैं, अतः ये दोनों ही आध्यात्मिक कहलातेहैं। कहीं कहीं दुःख-साधन जन्म आदि अर्थमें भी दुःख शब्दका प्रयोग हुआ पायाजाताहै तादृश प्रयोगोंको गौण समझना चाहिए। इस दुःख गुणकी अत्यन्त निवृत्तिको ही अधिक दार्श-निकोंने मोक्षस्वरूप चरमपुरुषार्थ मानाहै, जिसका विवेचन अभाव विचारके अवसर पर किया जायगा।

इच्छा-गुण

प्राणियोंकी जीवनयात्रामें इच्छाका हाथ ज्ञानसे किसीप्रकार कम नहीं है। वस्तु-ज्ञान होनेपरभी यदि उस विषयमें इच्छा न हो तो मनुष्यकी उस ओर प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती, वह उसे प्राप्त करनेकेलिए चेष्टा कभी नहीं कर सकता। वेद और प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने इस इच्छानामक-गुणको यहाँतक महत्त्व दिया है कि, इस भूतभौतिक जगतकी रचना ही तबतक नहीं होती, जबतक इस ब्रह्माण्ड-भाण्डके कुम्भकार परमेश्वरको इच्छा नहीं होती, अथवा उसकी इच्छा जगत्-सृष्टिकी ओर उन्मुख नहीं

होती। इच्छा उस गुणको कहते हैं जो ज्ञानसे उत्पन्न हो, और प्रयत्नको उत्पन्न करे। यद्यपि ऐसीभी परिस्थिति कभी-कभी होती है जबकि ज्ञान होकर उससे इच्छा तो उत्पन्न होतोहै किन्तु तदनन्तर प्रयत्न नहीं उत्पन्न होताहै, जैसे किसीभी लोभनीय किन्तु दुर्लभ वस्तुको देखकर। फिरभी उस इच्छामें प्रयत्न उत्पादनकी स्वरूपयोग्यता अवश्य रहती है, क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि प्रयत्न, इच्छा हुए विना होताहै। इच्छाके होनेपर-भी जो कभी-कभी प्रयत्न नहीं होताहै, वह इसलिए कि प्राणीमें तदानीं होनेवाला दुर्लभत्वज्ञान आदि, कोई न कोई प्रतिबन्धक हो जाता है, अतः इच्छामें प्रयत्नके प्रति कारणता अबाधित है, सुतरां इच्छाका इसप्रकार होनेवाला निर्वचन सर्वथा उचित है कि, जो गुण, ज्ञानसे उत्पन्न हो और प्रयत्नका उत्पादक हो, वह गुण है इच्छा। ज्ञानके समान इच्छाभी सविषयक होती है, अर्थात् इच्छा जब होतीहै तब किसी न किसी विषयमे ही होतीहै। कुछ लोगोंका कहनाहै कि, इच्छाका कोई स्वतः विषय नहीं होता, ज्ञानके विषयको लेकर ही वह विषयवाली होती है। क्योंकि जिस विषयमें ज्ञान होताहै इच्छाभी उसीको विषय करतीहै। इच्छा-भी ज्ञानके समान आत्माका एक गुणहै। कुछलोग इसे आत्माका गुण न मानकर अन्तःकरणका धर्म अर्थात् उसका परिणामस्वरूप मानते हैं। किन्तु यह इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि "मैं जानता हूँ" इसके समान "मैं चाहता हूँ" ऐसाभी अनुभव तथा वाक्य-प्रयोग प्रचुरतया हुआ करताहै। कभी कोई इस आल-ङ्कारिक भाषाका प्रयोग यदि करताहै कि "मेरा मन चाहताहै" "मेरा मन ललचाताहै" इत्यादि तो उसे औपचारिक अर्थात् गौण प्रयोग मानना चाहिए। क्योंकि यह बात माननी ही होगी कि, ज्ञान जिसमें होगा इच्छाभी उसीमें होगी। ज्ञान आत्मामें

ही होताहै, वह आत्माका ही गुण है, यह बात पहले स्थिर की जा चुकीहै, अतः इच्छाकोभी अन्तःकरणका अर्थात् मनका गुण न मानकर आत्माका गुण मानना ही होगा। काम, माया, स्पृहा लोभ, ये सब इच्छाके ही प्रभेद हैं। दार्शनिक ग्रन्थोंमें काम, कामना आदि शब्द इच्छा अर्थमें प्रचुररूपसे प्रयुक्त हुए पाये जाते हैं। लोकमें काम-शब्द सम्भोगकी इच्छा अर्थमें प्रयुक्त होता है। जहाँ "काम" का अर्थ "रिरंसा" किया गया है, वहाँ भी उसका अर्थ इच्छास्वरूप ही होता है। क्योंकि स्त्री एवं पुरुष इन दोनोंके विलक्षण संयोग स्वरूप सम्भोगकाही अपरनाम है "रति" और उसकी इच्छा ही कहलातीहै रिरंसा। कुछ लोग कामशब्द-का अर्थ करते हैं स्त्रीगत इच्छा, किन्तु यह अर्थ इच्छारूप होनेपर-भी इसलिए उचित नहीं कि, पुरुष विषयमें उत्पन्न होनेवाले "स्त्रीकाम" का संग्रह नहीं हो पाता। जो कुछभी हो "काम" भी इच्छा-विशेष ही है, इसमें किसी को विवाद नहीं है। कहीं-कहीं "काम्यन्ते इति कामाः" इस व्याख्याके अनुसार काम-पदसे काम्य वस्तुकोभी कहा गयाहै परन्तु इससे भी "काम" को इच्छास्वरूप होनेका खण्डन नहीं वरं मण्डन ही होता है। दूसरेको ठगनेकी इच्छाहै "माया" अतः माया भी-इच्छाका ही एक प्रभेदहै। उचित उपायोंसे किसीभी वस्तुको पानेकी इच्छाहै स्पृहा, अतः वहभी इच्छाहै। अनुचित उपायोंसे भी किसी वस्तुको पानेकी इच्छाका नामहै लोभ, सुतरां वहभी इस इच्छा गुणका ही एक प्रभेदहै। इसीप्रकार तृष्णा, तृषा, क्षुधा, हिंसा, आज्ञा, करुणा, आसक्ति, अनुरक्ति, ये सबभी इच्छाके ही प्रभेदहैं, क्योंकि अनुचित उपायोंसे भी वस्तु-प्राप्तिकी अविश्रान्त इच्छाहै तृष्णा, जल पीनेकी इच्छाहै तृषा, खानेकी इच्छा होतीहै क्षुधा, दूसरोंको कष्ट देनेकी इच्छाहै हिंसा, "लाभ

और अलाभकी विवेचना न करते हुए वह इस कार्यको करे" इसप्रकार अन्यसे किसी कार्यको करानेकी इच्छाहै आज्ञा. दूसरोंके दुःखोंको हटानेकी इच्छाहै करुणा, सतत-सम्पर्ककी इच्छाहै आसक्ति और उपभोगके अनन्तर उपभोग्य वस्तुकी इच्छाहै अनुरक्ति। अभिप्राय अभिसन्धि, आकूत, तात्पर्य, इन सबको भी इच्छाही समझना चाहिए, क्योंकि ये शब्द इच्छा अर्थमें ही प्रचुर-प्रयुक्त हुए पाये जातेहैं। इन सभीप्रकार इच्छाओंको "फलेच्छा" और "उपायेच्छा" इन दो भागोंमें विभक्त किया जासकताहै। सुख और दुःखाभावकी इच्छा होतीहै फलेच्छा और अन्य किसीभी पदार्थकी इच्छा होतीहै उपायेच्छा, क्योंकि सुख और दुःखाभावको छोड़कर अन्य कोईभी वस्तु तभी इच्छा-का विषय होतीहै, जब कि उक्त सुख किंवा दुःखाभावरूप मुख्य फलके उपायरूपसे वह जानी जातीहै। इन दोनोंके अन्दर फलेच्छा होतीहै कारण, और उपायेच्छा होतीहै कार्य, क्योंकि उपाय की इच्छा तभी होती है जब कि उस उपायसे प्राप्त होनेवाले फलकी इच्छा होतीहै, तृप्त प्राणीको भोजनकी इच्छा इसीलिए नहीं होती। यह इच्छाभी ज्ञानके समान तृतीय-क्षण-नाश्य होतीहै। सजातीय इच्छाधाराके अन्दर चरम इच्छाकी निवृत्ति, फलकी प्राप्तिसे होतीहै, अतः फल प्राप्त होजानेपर कुछ समयके लिए सजातीय इच्छा अवश्य रुक जातीहै। ईश्वरवादीके मतमें इच्छा नित्य और अनित्य-भेदसे दो प्रकार होतीहै, नित्य इच्छा परमेश्वरकी और अनित्य इच्छा जीवोंकी।



द्वेष-गुण

द्वेष उस गुणको कहतेहैं जो ज्ञानसे उत्पन्न होताहै, और निवृत्तिका कारण होताहै। यह गुण पूर्वोक्त इच्छाका अत्यन्त विरोधीहै। इच्छा और द्वेष ये दोनों एककालमें एकत्र कभी नहीं रह सकते। यह भी इच्छाके समान आत्मका ही गुणहै, और ज्ञान इच्छा आदिके समान मानस-प्रत्यक्षका विषय होताहै, अर्थात् द्वेषको भी उसी तरह मनसे समझा जाताहै, जैसे ज्ञान और इच्छाको। इसेभी कुछ लोग अन्तःकरणका धर्म अर्थात् उसका परिणाम मानतेहैं, किन्तु पूर्वोक्त युक्तिसे आत्माका गुण मानना ही उचितहै। यह द्वेषभी इच्छाके समान सविषयक हुआ करताहै। अर्थात् द्वेषभी उसीप्रकार किसी न किसी विषयमें ही हुआ करताहै, जैसे इसका विरोधी इच्छा-गुण। इस द्वेषको भी दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिए, जैसे "फलद्वेष" और "उपाय-द्वेष"। दुःखमें होनेवाला द्वेष होताहै "फलद्वेष" और दुःखके प्रति साधन होनेवाले सर्प, वृश्चिक, विष, व्याधि आदि विषयोंमें होने-वाले द्वेष होतेहैं उपाय द्वेष। इन दोनोंके अन्दर "फलद्वेष" होताहै कारण और "उपायद्वेष" होताहै उसका कार्य, क्योंकि दुःखमें द्वेष होनेके कारण ही उसके साधनमें द्वेष होताहै। सर्प, बिच्छू आदिमें कोई भी व्यक्ति द्वेष इसीलिए करताहै कि उससे प्राप्त होनेवाले दुःखमें उसे द्वेष होताहै, यही कारण है कि जब मनुष्य मरण दुःखसे द्वेष नहीं करता, तब फाँसीपर लटकनेमें भी नहीं हिचकता। द्वेषको इच्छा-विरोधी होनेपर भी इच्छाका अभाव-स्वरूप नहीं कहा जासकता, क्योंकि इच्छाका अभाव तो सुषुप्ति मूर्च्छा आदि कालमें भी होताहै, किन्तु उस समय साँप बिच्छू आदिसे डरकर मनुष्य निवृत्त नहीं होता, अतः द्वेषको इच्छाका

विरोधी स्वतन्त्रगुण मानना ही होगा। क्रोध भी द्वेषका ही एक प्रभेद है, जिस उग्र द्वेषके होनेपर आँखें लाल हो जायँ, होंठोंपर कम्पन आ जाय, ऐसे द्वेषका ही अपर नाम होता है क्रोध। सार-कथा यह कि, विरोधाचरणोन्मुख द्वेष कहलाता है क्रोध, और विरोधाचरणानुन्मुख द्वेष होता है द्रोह। क्रोधस्वरूप द्वेषसे द्रोहात्मक द्वेषमें कुछ अस्पष्टता रहती है। अमर्ष और ईर्ष्याभी द्वेषही है इसमें द्रोहसे भी स्पष्टताकी मात्रा कुछ कम रहती है। इच्छाके समान इस द्वेष-गुणका भी प्राणियोंके संसरणमें बहुत बड़ा हाथ है, क्योंकि इसके विना प्राणी अनुचित कार्योंसे उपरत अर्थात् निवृत्त नहीं हो सकता। प्रवृत्तिके प्रति जैसे इच्छा प्रयोजनीय है ठीक उसीप्रकार निवृत्तिके प्रति द्वेषभी प्रयोजनीय है। यदि द्वेषका उदय न हो, तो तीक्ष्णसे तीक्ष्ण अस्त्र हाथमें होनेपर भी उसका प्रहार कोई नहीं कर सकता है। कहीं कहीं द्वेषसे निवृत्तिके समान, प्रवृत्तिभी होती है, जैसे कोईभी प्राणी अपने विरोधीके अनिष्टाचरणमें जहाँ प्रवृत्त होता है, वहाँकी प्रवृत्ति द्वेषसे होती है। किन्तु सर्वत्र अनिष्टाचरणमें प्रवृत्ति द्वेषसेही होती है यह बात नहीं कही जा सकती, जैसे मांसाहारी अतएव मांसार्थी होनेवाले मनुष्यको जो पशु पक्षी आदि प्राणियोंको मारनेमें प्रवृत्ति होती है वह द्वेष-मूलक नहीं होती, क्योंकि द्वेष दुःख-साधन में ही हुआ करता है। उक्त प्रकार पशु-पक्षी दुःख-साधन नहीं होते हैं कि मांसाहारियोंको उनमें द्वेष होगा, और अतः उन्हें मारेंगे, अतएव वहाँ रागसे अर्थात् इच्छासे ही अनिष्टाचरणमें प्रवृत्ति होती है। यह किन्तु अव्यभिचरित है कि निवृत्ति कभी द्वेषके विना नहीं हो सकती। इच्छाके प्रतिद्वन्दी इसद्वेषमें सविषयता आदि बहुत कुछ इच्छाके समान होनेपरभी इसका नित्य और अनित्यरूपसे विभाजन नहीं होता, क्योंकि परमेश्वरको किसीसे द्वेष नहीं है।

—०—

प्रयत्न

यत्न अथवा प्रयत्न उस गुणको कहते हैं जो इच्छा या द्वेषसे उत्पन्न होताहै और चेष्टाका उत्पादक होताहै। हितकी प्राप्ति किंवा अहितके परिहारके अनुकूल शारीरिक क्रियाका नामहै चेष्टा। यह चेष्टा तबतक उत्पन्न नहीं होती जबतक शरीरसे परिछिन्न आत्मामें प्रयत्न उत्पन्न नहीं होता। अतः प्राणि-जीवनमें इस प्रयत्न-गुणका बड़ाही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यहाँतक कि जीवनके प्रत्येक शरीर-स्पन्दनमें, धमनियोंके प्रत्येक कम्पन तकमें इसका हाथहै। इसके विना प्राणी कभी चेष्टाशील नहीं हो सकता। इस प्रयत्न-गुणको प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने तीन भागोंमें विभक्त कियाहै। जैसे (१) प्रवृत्ति (२) निवृत्ति और (३) जीवनयोनि। किसीवस्तुको पानेमें अनुकूल होनेवाली चेष्टा जिससे होतीहै, वह प्रयत्न कहलाताहै प्रवृत्ति। जैसे किसी सुन्दर फूल या फलको देखकर उसे पानेके लिए जो हाथ आगे बढ़ताहै, तदनुकूल जो उसके पूर्व, आत्मामें प्रयत्न होताहै वह होताहै "प्रवृत्ति"। आत्मामें "प्रवृत्ति" नामक प्रयत्न होनेपरही उस फल या फूलको पानेके लिए हाथ आगे बढ़ताहै। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। "निवृत्ति" उस प्रयत्नको कहतेहैं जिसके आत्मामें उत्पन्न होनेपर प्राणी अनपेक्षित वस्तुका परिहार करताहै, अर्थात् उससे असम्पृक्त रहनेके लिए चेष्टा करताहै। जैसे सर्प काँटे आदि वस्तुको देखकर जो, मनुष्य उस ओरसे हटताहै, उस हटनेके प्रति कारण होनेवाला प्रयत्न है "निवृत्ति"। उन अनपेक्षित, वर्जनीय वस्तुओंको देखकर जब निवृत्तिनामक प्रयत्न आत्मामें उत्पन्न होताहै, तब उस वस्तुओंकी ओरसे मनुष्य विमुख होताहै, आगे बढ़ता नहीं, रुकजाताहै। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

वहाँ यदि यह प्रश्न उपस्थित हो कि वस्तुज्ञानकी अपेक्षा तो प्रवृत्ति और निवृत्ति द्विविध प्रयत्नके प्रति समानरूपसे अपेक्षित होतीहै, फिर क्या कारणहै कि कहीं प्रवृत्ति उत्पन्न होतीहै और कहीं निवृत्ति ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वस्तु-ज्ञानके अनन्तर जब प्राणीको उस वस्तुमें सुखसाधनताका ज्ञान होताहै, अर्थात् "इस वस्तुके सम्पर्कसे मुझे सुख मिलेगा" ऐसा ज्ञान होताहै, तब उस प्राणीको उस विषयमें इच्छा उत्पन्न होतीहै, और तब आत्मामें "प्रवृत्ति" उत्पन्न होतीहै । यदि वस्तु-ज्ञानके अनन्तर उसवस्तुमें सुखसाधनताके बदले दुःखसाधनताका ज्ञान होताहै, अर्थात् "इस वस्तुके सम्पर्कसे मुझे दुःख मिलेगा" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होताहै, तब आत्मामें "निवृत्ति" उत्पन्न होती है । किन्तु यहाँ एक बात ध्यान रखनेकी है कि, यदि प्रवृत्तिके प्रति इच्छाके द्वारा केवल सुखसाधनता-ज्ञानको कारण मानाजाय तो प्राणी, असाध्य होतेहुए भी किसीफलके प्रति साधन होनेवाले पदार्थोंके लिए भी, प्रवृत्त होकर सचेष्ट हो बैठेंगे, किन्तु ऐसा होता नहीं । चन्द्रमाको लानेके लिए कोई बुद्धिमान् ऊपर नहीं उछलता । यद्यपि चन्द्रमें सुखसाधनताका ज्ञान सभीकोहै किन्तु असाध्य समझकर उसके आनयनार्थ कोई प्रवृत्त नहीं होता, अतः सुख-साधनताज्ञानके समान साध्यताज्ञान भी प्रवृत्तिके लिए अपेक्षित है । कुछलोग सुखसाधनता-ज्ञानको प्रवृत्तिके प्रति कारण न मान-कर केवल "स्वसाध्यताज्ञान" को प्रवृत्तिके प्रति कारण मानते हैं । किन्तु यह इसलिए उचित नहीं कि स्वसाध्यताका ज्ञान तो सर्प-मुखचुम्बनमें भी मनुष्यको रहताहै किन्तु जो पागल नहींहै, ऐसा कोईभी मनुष्य, उसके लिए प्रवृत्त नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि कामना और स्वसाध्यताका ज्ञान इन दोनोंसे प्रवृत्ति होतीहै, तो कामनाके लिए सुखसाधनता ज्ञानकी अपेक्षा अवश्य होगी। क्यों-

कि जिसे प्राणी अपने लिए सुखकर नहीं समझता, कभी उसको कामना नहीं करता, उसे नहीं चाहता अतः फलतः कामना द्वारा उक्त सुखसाधनता ज्ञान एवं स्वसाध्यताका ज्ञान ये दोनों ही अपेक्षित हुए।

कुछ लोगोंका मतहै कि कभी कभी मनुष्य जिससे कोई लाभ नहीं देखता उत्सुकतावश उस कामको भी कर डालता है। हाँ इतना अवश्य देखलेताहै कि इससे मेरा कोई अनिष्ट तो न हो बैठेगा? इससे मुझे कोई असाधारण दुःख तो नहीं प्राप्त होगा? अतः प्रवृत्तिके प्रति इष्ट सुखसाधनता ज्ञानको कारण न मानकर उस वस्तुमें "बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ज्ञान"को कारण मानते हैं। अर्थात् यह वस्तु मेरेलिए बलवान्-अनिष्टका सम्पादन नहीं करेगी, इससे मुझे कोई अनिष्ट प्राप्त नहीं होगा, एतादृश ज्ञान ही स्वसाध्यता-ज्ञानसे सहकृत होकर प्रवृत्तिका उत्पादन करता है।

कुछ लोगोंका कहना यह है कि प्रवृत्तिके प्रति उक्तप्रकार स्वसाध्यताका ज्ञान एवं सुखसाधनताका ज्ञान ये दोनों कारण नहीं होते, किन्तु "मेरे हितचिन्तक यह चाहते हैं कि अमुक फलकी प्राप्तिके लिए मैं ऐसा करूँ" इस प्रकार आप्त पुरुषोंके अभिप्रायका ज्ञान प्रवृत्तिके प्रति कारण होताहै। यही कारणहै कि स्वयं फल नहीं समझते हुए भी अपने हितचिन्तक गुरु-मित्र आदिकी इच्छाके अनुसार किसीभी कार्यमें प्राणी प्रवृत्त होते हैं। अन्य कुछ लोगोंका कहना इस सम्बन्धमें यह है कि प्राणी अनुकरणशील हुआ करतेहैं। जिसको जिस फलकेलिए जो काम करते देखताहै, एवं उसे सफलभी पाताहै अपनेको उसके समान समझकर उस फलके लिए उस कामको करताहै। जैसे, रामने यह देखाकि श्याम भोजनकेलिए रसोई बनाताहै तो "मैंभी तो उसके समान ही हूँ, मुझे क्या हाथ पाँव नहीं हैं? या चावल लकड़ी

आदि रसोईके साधन नहीं हैं ? अवश्य हैं, फिर क्यों न करूँ ? ऐसा सोचकर रसोई करनेमें प्रवृत्त हो गया। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। किन्तु यह कथन इसलिए समुचित नहीं माना जाताहै कि प्रचलित क्रियाकलाप-स्थलमें तो यह बात खटती है, किन्तु जहाँ नवीन-नवीन आविष्कारोंमें आविष्कारक वैज्ञानिकोंकी प्रवृत्ति होतीहै वहाँ यह बात खटती नहीं। क्योंकि वैसा आविष्कार तो पहले हुआ नहीं रहता कि उसे देखकर प्रथम आविष्कारक वैज्ञानिक की उस प्रथम आविष्कारमें प्रवृत्ति होगी।

जीवनयोनि यत्न उसे कहतेहैं जिसके सहारे श्वास-प्रश्वासात्मक प्राण-सञ्चार होता रहता है। यदि यह कहाजाय कि श्वास-प्रश्वास अनायास हुआ करते हैं, उनकेलिए प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं, अतः जीवनयोनि नामक यत्न नहीं मानना चाहिये। तो यह इसलिए सङ्गत नहीं मालूम होता कि, फिर अधिक श्वास-प्रश्वास को भी प्रयत्नसापेक्ष नहीं होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं। प्राणायाम आदि स्थलमें श्वास-प्रश्वास अधिक प्रयत्न करने पर ही होते पाये जाते हैं। अतः सभी श्वास-प्रश्वासको प्रयत्नसाध्य मानना चाहिए। उसी प्रयत्नका नामहै "जीवनयोनि"। प्रयत्नके ये तीनों प्रभेद अनित्य-प्रयत्नके ही होतेहैं नित्य-प्रयत्नका कोई प्रभेद नहीं होता। वह एकही होताहै और वह परमेश्वरमें रहता है।

गुरुत्व-गुण

भारीपन है गुरुत्व। इसीको वजनभी कहतेहैं। यह पृथिवी और जलमें होताहै। यह अतीन्द्रिय होताहै, क्योंकि इसे किसी-इन्द्रियसे नहीं प्रत्यक्ष किया जा सकताहै। तुलादण्डके नमन या

उन्नमनको देखकर इसका अनुमान किया जाता है कि यह वस्तु इतना "गुरु" है अर्थात् इतना वजनवाली है। यह एक सेर है, यह दो सेर है इत्यादि। यदि यह गुरुत्व किसी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता तो वस्तुको तौलनेकी प्रथा ही नहीं चलती। तराजू और बटखरे बनतेही नहीं। कुछ लोगोंका कहना है कि गुरुत्वका चाक्षुष-प्रत्यक्ष तो नहीं होता है किन्तु "त्वाच" प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् त्वगिन्द्रिय-से इसका स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि हाथपर रखकर किसी वस्तुका गुरुत्व जाना जाता है। किन्तु यह कथन समुचित नहीं, क्योंकि यदि "त्वक्" से उसका प्रत्यक्ष हो, तो वायु या उसके स्पर्शके समान, शरीरमें कहीं भी वस्तुके सटने पर तद्गत गुरुत्व ज्ञात होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। उस वस्तुको हाथपर उठाना पड़ता है, तब गुरुत्व समझा जाता है, इससे यह स्पष्ट है कि दबते हुए हाथको तदवस्थित रखनेकेलिए मनुष्यको जितना प्रयत्न करना पड़ता है तदनुरूप गुरुत्वका उससे वह अनुमान कर लेता है, स्पार्शन-प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि हाथपर उठाये बिना छूने मात्रसे गुरुत्व प्रतीत होता, तब स्पार्शन-प्रत्यक्ष माना जाता। साथही यहभी ध्यान देनेकी बात है कि वस्तुको हाथपर उठाकर भी गुरुत्वका निर्णय नहीं हो जाता, एक अन्दाजा लगाया जाता-है मात्र। यदि स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता तो अन्यके समान कभी गुरुत्वका निर्णयभी तो होता। सम्भावना मात्र नहीं होती। इस गुरुत्वका परिचय प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने इस प्रकार दिया है कि, जो गुण अपने आश्रयमें प्रथम-पतनका उत्पादन करे वह होता है गुरुत्व। ऊपरसे कोई भी वस्तु नीचेकी ओर तभी आती जबकि उस वस्तुमें गुरुत्व अर्थात् भारीपन हो। दीप-शिखाको अधोमुख करनेपर भी उसकी लपट ऊपरकी ओर ही उठती है नीचे नहीं गिरती, इसका कारण यही होता कि उसमें गुरुत्व नहीं

रहता। पार्थिव या जलीय किसीभी वस्तुको सावकाश-स्थानमें ऊपरसे छोड़नेपर वह तुरत गिरतीहै, इनसे नीचे आजातीहै। अतः मानना होगा कि गुरुत्व एक गुणहै। यहाँ यह प्रश्न नहीं होना चाहिये कि यदि गुरुत्व कोई गुणहै तो तुल्ययुक्तिसे लघुत्वको भी कोई गुणही होना चाहिये, क्योंकि लघुत्वका अभाव-स्वरूप मानकर भी काम चल सकता है, फिर उसे गुण क्यों माना जाय?

द्रवत्वगुण

द्रवत्व उस गुणको कहते हैं जिसके सहारे पुनः-सङ्कोचानर्ह एवं अनन्तरितरूपसे अवयवोंका फैलाव याने विस्तार हो। तेल या जल आदिके गिरनेपर वे आश्रयमें फैलते हैं। फैलाव तो वस्त्र रबर आदिमें भी होताहै किन्तु सङ्कोचभी होताहै पुनः सङ्कोचानर्हरूपसे नहीं। शाकधूल आदिको जलमें गिरानेपर भी उसके अवयव जलमें फैलते हैं, किन्तु अनन्तरित हो नहीं रहते, कहीं अवयवोंका सम्पर्क टूट भी जाता। अवयव व्यवहित भी होजाते हैं। अतः अनन्तरितरूपसे फैलाव नहीं होता। प्राच्य पदार्थशास्त्रियोंने इस द्रवत्व-गुणका परिचय इस प्रकार दियाहै कि "पसीझना" स्वरूप क्रियाके प्रति जो गुण असाधारण कारण हो वह है द्रवत्व। इसके प्रभेद दो होतेहैं। जैसे सांसिद्धिक और नैमित्तिक। सांसिद्धिक-द्रवत्व जलमें होता है और नैमित्तिक किसी पृथिवी एवं किसी जलमें। सांसिद्धिकका अर्थ होताहै स्वाभाविक, अर्थात् आगन्तुक-निमित्तानपेक्ष। जलमें स्वाभाविक तरलता प्रत्यक्षसिद्ध है। घृत आदि कुछ पृथिवीमें एवं सुवर्णस्वरूप तेजमें अग्नि आदिके तापसे जो द्रवत्व उत्पन्न होता है, वह होता है नैमित्तिक। क्योंकि अग्नि आदिके संयोगस्वरूप

आगन्तुकनिमित्तसे वह द्रवत्व उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकार द्रवत्वको नित्य और अनित्य भेदसे भी विभक्त समझना चाहिये। बरफ ओले आदिमें भी द्रवत्व रहता है, किन्तु विलक्षण तापसे प्रतिरुद्ध रहता है, अतः उस समय उसमें तरलता नहीं देखी जाती। आगपर तपानेसे बरफ और ओलेमें तारल्य देखे जानेके कारण, यह मानना उचित नहीं कि उसमें सांसिद्धिक-द्रवत्व न मानकर नैमित्तिक-द्रवत्व ही मानलिया जाय। जमनेके पूर्व जलमें तरलता प्रत्यक्षसिद्ध होती है। जमना ही उसका आगन्तुक-निमित्त से होता है। अतः मध्यमें द्रवत्वका प्रतिरोध मानलेना ही समुचित है।

स्नेह-गुण

स्नेह वह गुण है जिसके सहारे जलमें "यह स्निग्ध है" इसप्रकार अनुभव एवं व्यवहार होता है। कुछ प्राच्यपदार्थशास्त्रियोंने इस स्नेह-गुणका परिचय इसप्रकार दिया है कि जिस गुणके सहारे जल डालनेपर आटा धूल आदि सम्पिण्डित होता है, जलगत उस गुणका नाम है स्नेह। जिस संयोगसे एकदेश धारण समग्र पिण्डका धारण हो एवं एकदेशके आकर्षणसे समग्रका आकर्षण हो उस संयोगका ही अपरनाम होता है पिण्डीभाव या सम्पिण्डित होना। यह संयोग जलगत-स्नेहगुणके कारण ही होता है। आटा आदिमें जल देकर मसलनेपर उसके कुछ अंशको उठानेपर पूरा पिण्ड उठजाता है। कुछ अंशको पकड़कर खींचनेपर पूरा पिण्ड खिच आता है यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। किन्तु इस कथनमें कुछ आदरकी मात्रा इसलिए कम होती है कि नौकाको पकड़कर खींचनेपर उसपर बैठे मनुष्य भी खिंच आते हैं। क्योंकि

नौकासे उन आरूढ़मनुष्योंको संयोग रहताहै। किन्तु नौकामें स्नेह-गुण नहीं रहताहै। दूसरी बात यहभी है कि जलमें मसले हुए आटा आदिमें जो उक्त धारण एवं आकर्षण का हेतुभूत संयोग देखा जाताहै, उसके प्रति जलगत-स्नेहगुणको कारण न मानकर द्रुतजल-संयोगको भी कारण मानलिया जासकताहै। बरफ ओले आदिके संयोगसे वह धारण-आकर्षणकारी संयोग आटे आदिमें इसलिए नहीं पैदा होता कि बरफ एवं ओले द्रुतजलस्वरूप नहीं होते। पिघले हुए काँच सुवर्ण आदिके संयोगसे वह धारण और आकर्षणको पैदाकरनेवाला संयोग इसलिए नहीं होता कि काँच सुवर्ण आदि द्रुतहोनेपर जल नहीं हैं। अतः पूर्वोक्तरूपसे ही स्नेह-का परिचय प्राप्तकरना चाहिए कि जलस्पर्शके अनन्तर "यह स्निग्ध-है" इसप्रकार अनुभव या व्यवहार जिस गुणके सहारे होताहै उसी गुणका नाम स्नेहहै। किसीभी वस्तु अथवा प्राणीमें जो किसी प्राणीको स्नेह होताहै वह मुख्य स्नेह नहींहै। वहाँ अनुराग-रूप इच्छाविशेष अर्थमें स्नेहशब्दका गौण प्रयोग होताहै कि "मुझे आप पर बहुत स्नेहहै" या "उनसे उन्हे अत्यन्त स्नेहहै" इत्यादि। यह स्नेह-गुण केवल जलमें होताहै। घृत तेल आदिमें पाया जाने-वाला स्नेहभी उसके अन्तर्गत जलका ही होताहै। तेल आदिमें जल होनेपरभी उससे आग बुझती नहीं, प्रत्युत प्रज्वलित होतीहै इसका कारण यह है कि अपकृष्ट स्नेहवाला जल आगका विरोधी होताहै तेल आदिमें मिलेहुए जल अपकृष्ट-स्नेहवाले नहीं अपितु उत्कृष्ट-स्नेहवाले होतेहैं। इस स्नेह-गुणका भी नित्य और अनित्य इन दो भेदोंमें विभक्त समझना चाहिये। परमाणुस्वरूप जलमें स्नेह नित्य होताहै और अन्य जलमें अनित्य।

—०—

संस्कार-गुण

पूर्वोक्त अन्यगुणोंके समान संस्कारभी एक स्वतन्त्र गुणहै। यों तो साधारणतया संस्कार शब्दका प्रयोग आगन्तुक मल-शोधन-अर्थमें अधिकतर होताहै। संस्कृतशास्त्र, संस्कृतभाषा इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थलमें उक्त आगन्तुकदोषका अपनयन ही प्रतीत होताहै। कुछ दार्शनिक कहीं कहीं पुण्य-पाप अर्थमें भी संस्कार शब्दका प्रयोग कियेहैं। किन्तु यहाँ इन उक्त अर्थोंसे विलक्षण अर्थ अभिप्रेतहै। इसे एक स्वतन्त्र-गुण इसीलिए माना जाताहै कि इसके कार्य विलक्षण होतेहैं। इसे तीन भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। जैसे—(१) वेग (२) भावना और (३) स्थितिस्थापक। वेग शब्दका प्रयोग लोकमें प्रचुरमात्रामें होताहै। जैसे—गाड़ी वेग-से जातीहै। वाण वेगसे जारहाहै। इसी वेगको कहीं कहीं तेज-तेजी आदि शब्दसेभी लोग पुकारतेहैं। गाड़ी तेजीसे जारहीहै। वाण तेजीसे जारहाहै इत्यादि वाक्यप्रयोगस्थलमें वेगको ही तेजी-शब्दसे कहतेहैं। इस वेगकोभी दो भागोंमें विभक्त किया जा-सकताहै। जैसे—(१) कर्म्मज और (२) वेगज। किसीभी वाण आदिमें जो प्रथम वेग उत्पन्न होताहै वह क्रियासे उत्पन्न होनेके कारण कर्मज कहलाताहै। और द्वितीय आदि वेग पूर्व-वेगसे उत्पन्न होतेहैं। जहाँ किसी एक वस्तुमें क्रियाकी धारा होतीहै वहाँ वेगकी धारा होतीहै। जबतक वाण आदिमें वेगकी धारा चलती रहतीहै, तबतक उसमें क्रियाकीभी धारा चलती रहतीहै। इसका नाश कहीं इसके आश्रयके साथ दृढ़ मूर्तके नोदन नामक संयोगसे होताहै। जैसे कि काँसेके बर्तन या घण्टेको बजानेपर कुछ कालपर्यन्त वह योंही शब्द करता रहताहै। किन्तु यदि इस बर्तन या घण्टाको हाथसे पकड़ लियाजाय तो शब्द बन्द हो

जाताहै। क्योंकि उससे चलनेवाली वेगधारा रुकजाती, अतः क्रिया-धाराभी रुकजाती, जिसके अभावसे शब्द उत्पन्न नहीं होपाता। किन्तु हाथसे पकड़नेपर भी कुछ काल पीछे शब्दधारा इसलिए रुक जातीहै कि वेगधाराके अन्दर पूर्व पूर्वकी अपेक्षासे पर वर्त्ती-वेग दुर्बल होते जातेहैं, सुतरां उपान्त्य वेग ऐसा दुर्बल होजाताहै कि वह आगे वेगको नहीं पैदाकर सकता। और वेगके अभावमें क्रिया नहीं होती। अतः नूतन संयोग नहीं होनेके कारण नूतनशब्द नहीं उत्पन्न होताहै। यह वेग नामक-संस्कार अतीन्द्रिय होताहै, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। क्रियाकी अधिकता और अल्पताको देखकर इसका अनुमान होताहै। वेग पृथिवी जल तेज और वायु एवं मन इन पाँच द्रव्योंमें होताहै।

द्वितीय संस्कारहै भावना। इसीको दार्शनिक लोग वासना-शब्दसे भी पुकारतेहैं। "यह लड़का बड़ाही संस्कारीहै, इसे बड़ी याद रहतीहै" इत्यादि वाक्य-प्रयोग स्थल में संस्कार शब्दसे इसी भावना नामक संस्कार विशेषको कहा जाताहै। यह प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति या शाब्दबोध किसीसे (अनुभवसे) उत्पन्न होकर तबतक रहतीहैं जबतक उस विषयका, जिसका कि पहले अनुभव हुआ होताहै, स्मरण नहीं होताहै। सारकथा यह कि इस भावना नामक-संस्कारको आत्मामें न माना जाय तो अनेक दिनपूर्व अनुभूत किसीभी वस्तुका अनेक-दिनके अनन्तर स्मरण न होने पाय। अतः भावनानामक संस्कार मानना अनिवार्य आवश्यक है। इस भावनाके नाशके सम्बन्ध में दार्शनिकोंमें मत-द्वैध पाया जाताहै। एक दलका कहना यह है कि प्रथम स्मरणसे अनुभवजनित-संस्कार नष्ट होजाताहै फिर उस प्रथम स्मरणसे समानविषयक दूसरी भावना उत्पन्न होतीहै जो, उस विषयकी दूसरी स्मृतिको उत्पन्नकर उससे मारीजातीहै। फिर उस दूसरी

स्मृतिसे एक नयी भावना उत्पन्न होतीहैं। इसप्रकार भावनाकी परम्परासे स्मरणकी परम्परा होतीहै। दूसरे दलका कहनाहै कि प्रथम अनुभवसे उत्पन्न भावना, तद्विषयक अन्तिम स्मृतिको, जो इस जन्ममें या जन्मान्तरमें होतीहै उसको, उत्पन्नकर उससे नष्ट होतीहै। बीच बीचमें जब जब इस भावनानामक संस्कारका उद्बोधक जुटताहै तब तब उद्बुद्ध अर्थात् जागरित होकर स्मरणको वह उत्पन्न करती रहतीहै। यही कारणहै कि यह पीछे पीछे दृढ़ होती जातीहै। अधिक उद्बोधकके जुटनेसे ही दृढ़ होती जातीहै। अन्तिम स्मरणसे उसका नाश होताहै। सारकथा यह कि इस प्रथम दल इस भावनाकी उत्पत्ति केवल अनुभवात्मक ज्ञानसे नहीं मानताहै, किन्तु ज्ञानमात्रसे। वह चाहे अनुभवहो या स्मरण दोनोंसे उत्पत्ति इसकी मानताहै। यही कारणहै कि मध्यमें स्मरणसे इसका नाशभी मानलेताहै। क्योंकि जब स्मरणसे संस्कार बनेगाही तो पूर्वपूर्व-भावनाको रहनेका कोई प्रयोजन नहीं रहजाता। किन्तु द्वितीय दल एकही विषयक असंख्य भावना माननेमें अत्यन्त कल्पना-गौरव देखकर यह कहताहै कि भावनाकी उत्पत्ति केवल अनुभवात्मक-ज्ञानसे होतीहै, स्मरणसे नहीं। यही कारणहै कि इन्हें एकही भावनाको अन्तिम स्मरण तक रखना आवश्यक होताहै। अन्यथा एक स्मरणके बाद पुनः उस विषयका स्मरण नहीं हो सकेगा। यह किन्तु सर्ववादि-सम्मत है कि इस भावनाकी उत्पत्ति उसी ज्ञानसे होतीहै जोकि अपेक्षात्मक एवं निश्चयात्मक हो। यही कारणहै कि रास्ते चलते अनुभूत सभी वस्तुओंका स्मरण नहीं होताहै, किन्तु जिस आकर्षक-वस्तुमें अपेक्षात्मक-ज्ञान होताहै, समय समयपर संस्कारके उद्बुद्ध होनेपर उसी वस्तुका स्मरण हुआकरताहै।

इस भावनाको कुछलोग आत्मधर्म न मानकर मनका धर्म मानतेहैं। इस मतमें कठिनता यह उपस्थित होतीहै कि जो लोग इसे मनोधर्म अर्थात् अन्तःकरणका धर्म मानते वे लोग इसे उसको परिणाम स्वरूप मानतेहैं। परिमाण है क्रिया एकही वस्तु एकही कालमें विजातीय-क्रियाशील नहीं होसकती। फिर विरुद्ध कोटि कोटि वस्तु विषयक वासनारूपसे अन्तःकरणका परिणाम प्रतिक्षण कैसे सम्भव होसकता।

संस्कारका तीसरा प्रभेद होताहै स्थितिस्थापक। इसका स्वभाव नामके अनुरूपही होताहै। अन्यथाकृत वस्तुको फिर पूर्वरूपमें पहुँचाना इसका कार्य होताहै। जैसे पेड़की शाखाको नवाकर छोड़नेपर वह पूर्वस्थानमें स्थित हो जातीहै। कुत्तेकी पूँछ सीधाकर छोड़नेपर फिर वह पूर्ववत् टेढ़ी होजातीहै। यह परिस्थिति उस वस्तुमें विद्यमान स्थितिस्थापकनामक संस्कार होनेके कारणही होतीहै। अतएव नयी बेतकी चटाई आदिमें पहले उक्त परिस्थिति होनेपर भी जब कि उसपर बैठते बैठते उसमें होनेवाला स्थितिस्थापक-संस्कार नष्ट होजाताहै फिर यह बात उसमें नहीं देखी जाती कि फैलाकर छोड़देनेपर खुद सिमिट जाय। यह संस्कार पार्थिव पदार्थोंमें हुआ करताहै। कुछलोग पृथिवी जल तेज और वायु इन चारोंमें इसकी सत्ता मानतेहैं। यह स्थितिस्थापक कभी स्पन्दनका भी अर्थात् कम्पनका भी कारण होताहै। यही कारणहै कि अवनामित मुक्त-वृक्षशाखा ऊपर पहुँचकर भी कुछ कालतक काँपती रहतीहै। यद्यपि प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने इसे स्वतन्त्र एक प्रकार संस्कार मानाहै किन्तु इसे यदि वेगका ही प्रभेद मान लियाजाय फिर भी कोई अनुपपत्ति नहीं दीख पड़ती।

अदृष्ट

अदृष्ट उस गुणको कहतेहैं जो सत्कार्य या असत्कार्यसे अर्थात् सदाचरण या असदाचरणसे उत्पन्न होकर सुख या दुःख दे। इसे अदृष्ट इसलिए कहा जाताहै कि सुख या दुःख होनेपर उससे उसके कारण रूपसे इस गुणकी कल्पना होतीहै प्रत्यक्षतः इसे देखा नहीं जा सकता। इसके स्वीकारमें प्राचीन-पदार्थ शास्त्रियोंने युक्ति यह दी है कि, यह तो सभीको मानना ही होगा कि अच्छे कर्मोंसे सुख मिलताहै और बुरे कर्मोंसे दुःख मिलताहै। यदि ऐसा न माना जाय तो कोई भी विवेकी सुकर्म क्यों करे दुःकर्म ही क्यों न करे? यदि यह मान लिया गया कि सुकर्मसे सुख और दुःकर्मसे दुःख मिलताहै, तो कठिनता यह प्राप्त होतीहै कि सुकर्म या दुःकर्म किया जाताहै कभी, और उसके फल सुख या दुःख मिलतेहैं अनेक कालोत्तर कभी। फिर अतिव्यवहित-परवर्त्ती सुख या दुःखके प्रति उससे अतिव्यवहित पूर्वकालवर्त्ती कर्मको कैसे कारण माना जाय? इस कठिनताके निराकरणार्थ बीचमें अदृष्ट नामक गुण आत्मामें मानना चाहिए, जिसके रहनेके कारण सुकर्म या दुष्कर्म के नष्ट हो जानेपर भी सुख या दुःखकी निष्पत्ति हो सके। कुछ लोग जो कि प्रत्यक्षमात्रको वस्तु-व्यवस्थापक प्रमाण मानतेहैं अदृष्टनामक-गुण नहीं मानते। परन्तु ऐसे लोगोंके मतमें सुकर्म दुःकर्मकी परिभाषा क्या होगी? इसे वे ही बतला सकतेहैं। क्योंकि अदृष्ट माने विना कर्मको सुखकर या दुःखकर भी नहीं माना जा-सकता कि, सुखद या दुःखद होनेके आधारपर सुकर्म दुःकर्मकी परिभाषा की जाय। यदि यह कहा जाय कि जिससे राजदण्डका भागी हो वह होगा दुःकर्म और तदतिरिक्त कर्म होंगे सुकर्म तो

यह भी कहना कठिन होगा क्योंकि दण्ड-विधानका निर्णय ही पहले कैसे हो सकेगा ? सुकर्म-निश्चय और दुःकर्म निश्चयके आधारपर ही तो दण्ड-विधानका निश्चय होता है।

इस अदृष्टकी सिद्धिमें सबसे प्रबल युक्ति यह है कि ऐसी एकभी क्रिया नहीं दिखलायी जासकती जो अपने अन्दर और फलसिद्धिके पूर्व, मध्यमें एक अदृष्ट-व्यापारकी अपेक्षा नहीं करती। जैसे किसी आकर्षक वस्तुको देखकर कोई समय समयपर उसे स्मरण करता है यहाँ देखना और स्मरण स्पष्ट है। किन्तु मध्यमें होनेवाली भावना जिसकी चर्चा संस्कार विचारस्थलमें की जाचुकी है अदृष्ट रहजाती स्मरणस्वरूप फलसे ही वह कल्पना की जाती कि, वह अवश्य थी, नहीं तो देखनेवालेसे दूसरोंको उस आकर्षक वस्तुका स्मरण क्यों नहीं होता ?। रोगी दवाई खाता है और रोगमुक्त हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। ये दो बातें प्रत्यक्षसिद्ध होतीहैं किन्तु मध्यमें होनेवाली प्रक्रिया छिपी रहजाती, अदृष्ट रह जाती। कली बन्द रहती और खिलकर फूल हो जाती, ये बातें प्रत्यक्ष देखी जातीहै किन्तु मध्यवर्ती पंखुड़ियोंका मृदुकम्पन अस्पष्ट अदृष्ट ही रहजाता। जब कि साधारण क्रियामात्र फलसिद्धिके लिए अदृष्ट व्यापारको अपेक्षा करतीहै फिर सुकर्म दुःकर्म क्यों नहीं अदृष्ट व्यापारकी अपेक्षा करेंगे ? अतः अदृष्ट नामक गुण मानना ही होगा। कुछ लोग सुकर्म दुःकर्मकी ही अस्पष्ट अवस्थाविशेष मानतेहैं गुण नहीं किन्तु कर्म स्पन्दनात्मक ही होताहै। अतः इस कर्मस्वरूप मानना कठिन है। कुछ लोगोंका कहना यह है कि सुकर्म करनेसे भगवान्‌को प्रसन्नता होतीहै और दुःकर्म करनेसे अप्रसन्नता। उस प्रसन्नतासे सुकर्मकारीको सुख मिलताहै और अप्रसन्नतासे कुकर्मकारीको दुःख। इस मतवादमें उक्त प्रसन्नता एवं अप्रसन्नताको ही अदृष्टपदसे कहा जाताहै कर्तृगत स्वतन्त्र गुणको नहीं। किन्तु यह

इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि फिर भगवान्‌को जीवोंके समान जन्य सुख और दुख होताहै, ऐसा मानना होगा। क्योंकि प्रसन्नताको सुखसे और अप्रसन्नताको दुःखसे अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जासकता। भगवानको भी सुख और दुःख माननेपर जीवसे उनकी विशेषता ही क्या रह जाती? कुछ लोग इस अदृष्टको आत्माका गुण न मानकर अन्तःकरणका धर्म, परिणाम रूप मानतेहैं। किन्तु सुख और दुःख आत्माके गुणहै। अतः अदृष्टको भी आत्मगुण मानना ही उचितहै। इस अदृष्ट नामक गुणको (१) पुण्य और (२) पाप इन दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। पुण्य वहहै जिससे सुखहो और पाप वहहै जिससे दुःख हो। अब इसीके आधार पर सुकर्मकी भी परिभाषा हो जातीहै। जैसे, जिससे पुण्य उत्पन्न हो वह कर्म सुकर्महै, और जिससे पाप हो वह कर्म कुकर्म। सुखद कर्महै सुकर्म और दुःखद कर्महै कुकर्म यह परिभाषा नहीं की जासकती। क्योंकि तब तो परस्त्रीगमन आदि सुकर्म और तपश्चरण आदि कुकर्म कहलाने लगेंगे।

शब्द

शब्द उस गुणको कहतेहैं जिसे कानसे सुना जाताहै। यहशङ्का नहीं करनी चाहिये कि सर्प तो "चक्षुः श्रवा" है। वह तो कानसे शब्दको नहीं ग्रहण करताहै। क्योंकि सुनता वह भी कानसेही है। भेद अन्य जीवोंसे उसे यह है कि चक्षुःछिद्र और कर्ण छिद्र दो स्थानोंमें नहींहै इसीलिए वह "चक्षुः श्रवा" कहलाताहै। कुछलोग इसे गुण न मानकर द्रव्य मानतेहैं। उनका कहना यह है कि शब्द एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाताहै। अन्यथा शब्दका श्रवण ही नहीं हो सकेगा। आज जो टेलीफोन आदिसे

बहुत दूरके शब्दभी सुनाई देतेहैं। अतः गतिशील इसे मानना ही होगा, फिर उसे द्रव्य मानना अनिवार्य होताहै। क्योंकि क्रिया अर्थात् चलन द्रव्यमें ही होताहै। इतना ही नहीं, मन्दिर, पर्वतको गुफाओं, बन्द पक्केघर आदिमें शब्दकी प्रतिध्वनि होतीहै। यह शब्दको द्रव्य मानने पर ही सङ्गत हो सकतीहै! गतिशील-शब्द दृढ़-द्रव्यसे टक्कर खाकर लौटतेहैं वे ही प्रतिध्वनि शब्दसे कहे जातेहैं, इत्यादि। किन्तु इसमें कठिनता यह प्राप्त होतीहै कि तीव्र-तीव्रतर मन्द-मन्द तररूपसे गृहीत होनेके कारण उसे नित्य व्यापक तो माना नहीं जा सकता। अनित्य और उत्पत्तिशील ही मानना पड़ेगा। फिर पार्थिव आदि परमाणुओंके समान इसका भी परमाणु मानना होगा। परन्तु इस क्रमसे अवयवोंको जोड़कर शब्दका उत्पादन अनुभव-विषय नहीं होता। श्रूयमाण "क" आदि प्रत्येक वर्णको शब्दका परमाणु नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय और अतएव अप्रत्यक्ष होता है। महान् अवयवी शब्द माननेपर पृथक् उन अवयवोंका प्रत्यक्ष होना चाहिए, जो होता नहीं। शब्दको द्रव्य माननेमें सबसे बड़ी कठिनता यह प्राप्त होती है कि, एकदा एक द्रव्यमें क्रिया एकाभिमुखी ही होतीहै। जैसे किसी वस्तुको फेंकनेपर या गिरानेपर वह किसी एकही ओर जातीहै। शब्दमें ऐसा स्वभाव माननेपर चारों ओर शब्द सुनाई नहीं देगा। किन्तु ऐसी बात नहीं होती, एकस्थानमें जायमान शब्दका श्रवण चारोंओर होता है। यदि यह कहाजाय कि शब्द चक्राकार गतिशील होताहै, इसलिए चारोंओर शब्द सुनाई देताहै। फिर भी ऊपर और नीचे या अगल-बगल शब्द नहीं सुनाई देना चाहिये। एकबात और ध्यानदेने योग्य यहहै कि शब्दको यदि परमाणु द्व्यणुक आदि क्रमसे उत्पन्न द्रव्य माना जायगा, तो वह या तो संयोगज-द्रव्य होगा या तो विभागज-

द्रव्य। उभयथा अनुपपत्तिहै। क्योंकि क-ख-आदि एक एक शब्दको संयोगज इसलिए नहीं माना जासकता कि उसके अवयवभूत वर्ण उपलब्ध नहीं हैं जिन्हे जोड़कर प्रत्येक वर्णका उत्पाद हो सकेगा। जैसा कि पहलेभी कहा जाचुका है। विभागज-द्रव्य भी इसीलिए नहीं होसकेगा कि किस वर्णात्मक अवयवके विश्लेषणसे क-ख आदि एक एक वर्णात्मक शब्द उत्पन्न होगा? दूसरी बात यह भी है कि विभागज द्रव्य नियमतः पूर्ववर्त्ती अवयवि-द्रव्य सापेक्ष हुआ करताहै, एवं उससे अपकृष्टपरिमाणवाला हुआ करताहै। जैसे दस हाथके एक कपड़ेको फाड़कर दो टुकड़े करदेनेपर जो पाँच पाँच हाथके दो खण्ड-कपड़े होते हैं वे पूर्ववर्त्ती दश हाथके एक कपड़ेकी अपेक्षा रखतेहैं, और उससे छोटे होतेहैं। प्रकृतमें ऐसी बात नहींहै। क-ख-आदि वर्णसे पूर्व कोई अवयवी शब्द नहीं पायाजाता जिसकी अपेक्षाकर ये क-ख आदि वर्ण उससे छोटे होते हुए उत्पन्न हो सकेंगे। कुछ लोग क ख आदि वर्णात्मक शब्दको नित्य और व्यापक द्रव्य मानते हैं और अभिव्यञ्जक विशेषके सान्निध्यसे तत्तद् वर्णोंकी अभिव्यक्ति मानते हैं। किन्तु यह बात इसलिए नहीं जँचती कि अभिव्यञ्जक संयोग एवं विभागको ही मानना होगा। यहाँ सो नहीं माना जासकता। क्योंकि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक इन दोनोंको समसामयिकत्वका नियम है। ऐसा कभी नहीं होता कि दृश्यमें दीपप्रभा आदिका संयोग होताहै कभी, और दृश्य वस्तु अभिव्यङ्ग्य होतीहै कभी। प्रकृतमें व्यङ्ग्यशब्द और व्यञ्जक संयोग एवं विभागको समसामयिकता नहीं होती। बन्दूक दागनेवाले लोगोंका अनुभव एवं कहनाहै कि जब लक्ष्य गोलीसे आहत होजाता है, तब शब्द सुनाई देताहै। अतः यह मतवाद सङ्गत नहीं मालूम होता है।

तत्वतः शब्द उत्पत्तिविनाशशील एक प्रकारका गुणहै। यह आकाशमें ही उत्पन्न होताहै। संयोग एवं विभाग इसके उत्पादक हैं। शब्दका श्रवण इसलिए होताहै कि शब्दके उत्पादस्थानसे लेकर श्रोताके कानतक क्रमसे शब्दकी धारा उत्पन्न होतीहै। अर्थात् एक शब्दसे द्वितीय तज्जातीय शब्द, उससे तृतीय तत्सजातीय शब्द अनन्तआकाशमें उत्पन्न होतेहैं। सुतरां श्रोताके कानमें उत्पन्न होनेवाले शब्दको वह सुनताहै। शब्दधाराके अन्तर्गत शब्दोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंके दो मत पाये जातेहैं, जैसे वीचीतरङ्गदृष्टान्तानुसार शब्दकी उत्पत्ति और कदम्ब मुकुल-दृष्टान्तानुसार शब्दकी उत्पत्ति। प्रथमपत्तका अभिप्राय यह है कि, जैसे, जलमें किसी अतिवेगवान् दृढ़तर बड़े द्रव्यके गिरनेसे उसे वेष्टन करके गोल लहर उद्गत होतीहै और उससे फिर दूसरी लहर पूर्वकी अपेक्षासे अधिक देशव्यापी उठतीहै, फिर उससे तीसरी, इस तरह कल्लोलमाला चल पड़ती है। उसीप्रकार एक शब्दके उत्पन्न होनेपर उससे अधिकदेश व्यापी दशो दिशाओंमें एक दूसरा, उससे फिर तीसरा, इसप्रकारसे अनन्त आकाशमें शब्दकी धारा चलपड़तीहै। दूसरी प्रक्रिया यह है कि जैसे कन्दुककल्प कदम्ब-पुष्पमें सब ओर केसर शिखाएँ निकलतीहैं उसीप्रकार एक शब्दके उत्पन्न होनेपर उससे सभी ओर अर्थात् दशदिशाओंमें दश शब्द उत्पन्न होतेहैं। उनके अन्तर्गत प्रत्येकसे भी फिर उसीप्रकार दश दश शब्द उत्पन्न होतेहैं। अनन्त आकाशमें इसतरह शब्दधारा उत्पन्न होताहै। प्रथम शब्दोत्पत्तिस्थानसे श्रोता जितना दूर होता जाताहै, शब्द उसे उतनाही अस्पष्ट भावसे सुनाई देताहै। इसका कारण यह है कि दूरत्व शब्दके सुननेमें प्रतिप्रबन्धक होता जाताहै। किन्तु दूरत्वगत प्रतिबन्धक-शक्ति का भी प्रतिबन्ध दो प्रकारोंसे किया जासकता

है। जैसे यदि शब्दधाराको केन्द्रित करलिया जाय तो दूरसे भी शब्द सुना जासकता है। यही कारण है कि टेलीफोनसे दूरतरवर्ती शब्द भी सुना जाता है। ऐसी स्थितिमें शब्द-धारा केन्द्रित हो जाती है यह बात इसलिए मालूम होती है कि टेलीफोनसे की जानेवाली बातचीतको वेतारके तार रेडियों आदिसे नहीं सुना जासकता है। दूरत्वगत प्रतिबन्धक-शक्तिके प्रतिबन्धका दूसरा उपाय है यन्त्रविशेष। यही कारण है कि निरवच्छिन्न भावसे शब्दधाराके उत्पन्न होनेपरभी दूरवर्त्ती शब्द उक्तयन्त्रोंके साहाय्यसे सुना जाता है। अथवा यह भी कल्पना की जासकती है कि, इसके मूलमें भी शब्दका केन्द्रीकरण ही काम करता है। अर्थात् यन्त्रसम्मुख उत्पन्न शब्दसे दश-दिगवच्छिन्न-शब्द उत्पन्न न होकर एकाभिमुख अर्थात् श्रोताकी ओर ही शब्दधारा चल पड़ती है, जिससे शब्द स्पष्ट हो उठता है। अन्य बहुत शब्दके उत्पादन से तद्गत-सामर्थ्यका ह्रास अयुक्त नहीं।

उक्त वीचीतरङ्ग दृष्टान्त और कदम्बमुकुल-दृष्टान्तके बीच, कुछ परवर्त्ती प्राच्य-पदार्थशास्त्रियोंने प्रथमको ही उपयुक्त माना है। क्योंकि उसमें उत्पन्न शब्दोंकी संख्या में बहुत कमी होनेसे लाघव सम्भावित होता है। परन्तु इन यान्त्रिक शब्द-ग्रहणोंको ध्यानमें लानेपर द्वितीय मतवाद ही सङ्गत मालूम होता है। कुछ लोग परवर्त्ती कालमें ग्रामोफोनसे सजातीय-शब्दकी सुनाईके कारण, शब्दको नित्य स्थायी मानते हैं। उनका कहना है कि समय समय पर उक्त यन्त्रसे शब्दकी अभिव्यक्ति परकालमें होती है। किन्तु शब्द अभिव्यङ्ग्य नहीं हो सकता है, यह बात पहले बतलायी जाचुकी है। रही बात ग्रामोफोनसे सजातीय शब्द-ग्रहणकी, तो इसका उपपादनशब्द के अनित्यत्व पक्षमें भी किया जा सकता है। मनुष्य आदिके शरीर भी

तो एक यन्त्र ही हैं, उसके साहाय्यसे यदि आकाशमें शब्दोत्पादन होता है, तो ग्रामोफोन यन्त्र के साहाय्य से भी हो सकता है। यदि वादक अच्छा हो, तो उसको कुशलतासे वीणा-आदिके तारोंके साहाय्यसे भी, पूर्वोक्त शब्दके सजातीय शब्द उत्पन्न होतेही हैं, और सुने ही जातेहैं। वर्णनित्यत्व-पक्षमें बड़ी-अनुपपत्ति यह प्राप्त होती है कि, सभी वर्ण सब जगह विद्यमान रहेंगे, फिर किसी की ही अभिव्यक्ति क्यों होगी? शब्द को आकाशका गुण न मानकर वायुका गुण क्यों न माना जाय? इस सम्बन्ध में प्राच्य पदार्थशास्त्रियोंका कहना यह है कि, वायुके गुण यावद्-वायुकालस्थायी होतेहैं किन्तु शब्द ऐसा नहीं है। अतः उसे वायुका गुण नहीं माना जासकता। कुछ लोग शब्द को पृथ्वी आदि पाँचों द्रव्योंका गुण मानते हैं, क्योंकि उनके मतमें आकाशसे वायुकी, और उससे तेजकी उससे जलकी और उससे पृथ्वीकी उत्पत्ति मानते हैं, और परवर्त्ती भूतों में पूर्वगुणका भी समावेश मानते हैं। क्योंकि परिणामवादी होनेके कारण, उनके मतमें आकाश वायुरूपेण परिणत होताहै, अतः कार्यमें कारण-गुण का होना आवश्यक हो आता है। परन्तु सजातीय द्रव्य से सजातीय द्रव्यका आरम्भ माननेवालेके लिए केवल आकाशमेंही शब्द मानना उचित है। शब्दको (१) ध्वनि और (२) वर्ण इन दो भागोंमें विभक्त समझना चाहिये। वाक्य-के अंशभूत क-ख आदि हैं वर्ण, और तद्भिन्नहै ध्वनि। मृदङ्ग आदिके शब्द होते हैं ध्वनिरूप। गुण-ग्रन्थ समाप्त।

पदार्थशास्त्रका

प्रथमभाग-

समाप्त।





लेखक की कृतियाँ

मुद्रित—

१. पदार्थ-शास्त्र (हिन्दी)
२. तर्कसंग्रह न्यायबोधिनी टीका (संस्कृत हिन्दी)
३. प्रबोधचन्द्रोदय (दार्शनिक मैथिली नाटक)
४. सीतास्वयम्बर (मैथिली नाटक)
५. रसनिर्झरिणी (मैथिली काव्य)
६. चन्द्रावतीचरितम् (संस्कृत काव्य)

यन्त्रस्थ —

१. वेदान्तपरिभाषा-भगवती (संस्कृत टीका)

अमुद्रित —

१. न्यायदर्शन की हिन्दी टीका
२. घनश्याम (हिन्दी काव्य)
३. तर्कसंग्रह-दीपिका की विस्तृत हिन्दी व्याख्या
४. सदाशिवेन्द्रवृत्ति (वङ्गानुवाद)
५. महाकवि विद्यापति (मैथिली नाटक)
६. आचार्यविजय (हिन्दी नाटक)
७. एकादशी (विद्यापति पद्य व्याख्या)
८. स्वर्णमन्दिर (उपन्यास)
